संस्मरण और आत्मकथाएँ

सङ्कलयिता
धुनिराम त्रिपाठी
बी० एस० सी०, शास्त्री
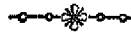
प्रकाशक—
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,
पो० बक्स नं० ७०,
ज्ञानवापी, बनारस।

प्रथमसंस्करण] १९५३ [मूल्य १॥

प्रकाशक—
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,
पो० बक्स नं० ७०,
ज्ञानवापी, बनारस।

मुद्रक—
विद्या मन्दिर प्रेस लि०,
मान-मन्दिर, बनारस।

प्राक्कथन

संसार के सभी देशों और राष्ट्रों में समय-समय पर ऐसी विभूतियाँ जन्म ग्रहण करती रहती हैं जिनके कार्य-कलाप कवियों और लेखकों द्वारा शताब्दियों तक गाये और लिखे जाते हैं, जिससे अनुप्राणित होकर मानव-जाति महत्ता और मर्यादा प्राप्त करती हैं। देश का अभ्युत्थान और सामाजिक नव-निर्माण इन्ही महापुरुषों के ऊपर निर्भर रहता है। देश के भावी कर्णधार नवयुवकों को इन महान् आत्माओं की जीवनी से नव-जीवन और स्फूर्ति प्राप्त होती है, जिससे राष्ट्र सबल और गौरवशाली होता है। प्रस्तुत संकलन इसी दृष्टिकोण को अपना कर किया गया है। इसमें आधुनिक युग के कुछ उन नर-रत्नों का जीवन-वृत्त संस्मरण तथा आत्मकथा के रूप में संकलित हुआ है जिनकी जगमग ज्योति काल की अनिवार्य छाया से जरा भी धुंधली नही हो पाई है। उनकी ज्वलन्त मूर्त्तियाँ प्रत्येक सहृदय भारतीय के मानस-मन्दिर में ऊँचे आसन पर विराजमान हैं। संकलन को बालोपयोगी बनाने के लिए एक ही व्यक्ति के आत्म-चरित और संस्मरण को लम्बा न कर अनेक व्यक्तियों के संस्मरण और आत्म-चरित को स्थान दिया गया है, जिससे छात्रों का जी भी न ऊबे और साथ ही उन्हें आत्म-कथा और संस्मरण लेखन-शैली की विभिन्नता का भी ज्ञान हो। प्रारम्भ में विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का आत्म-चरित अवश्य कुछ लम्बा हो गया है, किन्तु वह इतना रोचक है कि उससे जी ऊब ही नहीं सकता।

संकलन में जिन लेखकों अथवा प्रकाशकों की रचनाएँ संगृहीत हुई हैं, संकलयिता उनका हृदय से आभार स्वीकार करता है।

—संकलयित

विषय-सूची

—:o:—

—:o:—

संस्मरण और आत्मकथाएँ

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ

[डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर बंगला भाषाके सर्वश्रेष्ठ कवि थे। सुन्दर काव्य-रचना के ही कारण उन्हे नोबुल पुरस्कार प्राप्त हुआ था। उनकी गद्य और पद्य रचनाओं का अनुवाद अनेक विदेशो भाषाओं में हुआ है जिससे उनकी लोक-प्रियता का ज्ञान होता है। उन्होंने ही 'शान्तिनिकेतन' नामक आदर्श गुरुकुल की स्थापना की। उसके वे आजीवन कुलपति रहे। उनका रूप बहुत ही भव्य था। एक बार वे काशी पधारे थे। उस समय उनका दर्शन करने पर पंडित वेणी माधव शर्मा के हृदय में जो सुन्दर भाव जगे, उसे उन्होंने शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त कर बड़ा ही सुन्दर शब्दचित्र प्रस्तुत किया है, जिसका रसास्वाद आगे की पंक्तियों द्वारा होगा। शर्माजी हिन्दी के सुविख्यात कवि और विद्वान् श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय के पौत्र हैं। इनकी लेखनशैली अपूर्व और अनुकरणीय है।

आर्यों के सौन्दर्य का प्रतीक। सरसीरुह लोचन। कीर की सी नासिका शरत्कालीन शुभ्र-वारिदों के से श्वेत-केश। महर्षियों की-सी दाढी, रेशम सी चमकीली और कोमल। रवीन्द्र के हर कार्य मे कलाकार का विचि आभास। चाल में गति और लय का समन्वय। कोमलता की सजी प्रतिभा कवीन्द्र रवीन्द्र।

प्रातःकाल का समय। हिन्दू विश्वविद्यालय का अतिथि-भवन सूर्यदेव की रश्मियाँ संसार को स्वर्ण-रञ्जित कर रही थीं। पक्षी मस्त हो वृक्षो पर कलरव कर रहे थे। कविवर अपनी कल्पना में लीन उस भव की छत पर टहल रहे थे। रह-रह कर शुभ्र-आकाश की ओर नेत्र उठाते दो क्षणो के पश्चात नेत्र नीचे हो जाते।

रेशमी अंगरखा। रेशमी धोती। पैरों में मखमली जूती और कन्धों तक लहराते श्वेत-केश।

लड़कों का समुदाय अतिथि भवन की ओर बढ़ता चला आ रहा था। लड़के मन्त्रमुग्ध हो गुरुदेव के सम्मुख नतमस्तक हो गए। कवीन्द्र-रवीन्द्र की जय गूँजने लगी। कवीन्द्र ने ऊपर से ही हाथ जोड़ कर अभिवादन का उत्तर दिया। दाढ़ी-मूछों के बीच से हल्की मुसकान झलकने लगी। स्वच्छ कमल-नेत्र स्नेह-रस से छलछला उठे।

+ + +

बेसेण्ट कालेज का उद्घाटन दिवस। कवीन्द्र-रवीन्द्र उद्घाटन करने के लिये पधारे थे। श्वेत-बालों पर गाढ़े-लाल रंग की ऊँची मखमली टोपी, रेशमी अंगरखा, रेशमी धोती, नीले रङ्ग की जूतियाँ। मन्द गति से आकर गुरुदेव मखमली गद्दों और फूलों से सजे आसन पर विराजमान हुए। राज-घाट पर गङ्गा के उत्तर की ओर बेसेण्ट-कालेज का रमणीक दृश्य है। प्राचीन बड़े-बड़े सघन वृक्षों ने उसे अद्भुत-सौन्दर्य प्रदान किया है। गुरुदेव बेसेण्ट कालेज का स्थान देख कर मोहित हो गए। उन्हें वहाँ प्रकृति की छटा बड़ी हृदयग्राही प्रतीत हुई। ऋषिकुल आश्रमों की-सी शान्ति और शान्त वातावरण ने कवीन्द्र को विह्वल कर दिया।

उत्सव में सम्मिलित नर-नारी गुरुदेव को एकटक देख रहे थे। फोटो-ग्राफर उनकी क्षण-क्षण की बदलती मुद्राओं के चित्र ले रहे थे। सुरीली ध्वनि में गुरुदेव का भाषण बहुत ही प्रभावोत्पादक हुआ। शिक्षा का विशिष्ट ध्येय, जो गुरुदेव ने अपने स्थापित किए विद्यालय शान्ति-निकेतन में रखा है, उसी के विषय में उन्होंने अपने विचार प्रकट किए। सारी जनता चुपचाप बैठी उनकी बातों को ध्यान से देख और सुन रही थी।

सभा विसर्जित हुई। लड़के-लड़कियाँ अपनी कापियाँ लिए गुरुदेव के पास पहुँचे। वे एक के बाद एक को हस्ताक्षर देते जाते और वे अपनी कापियाँ लेकर चले जाते। गुरुदेव तन्मय चुपचाप हस्ताक्षर कर रहे थे।

—:o:—

रवीन्द्र और राजेन्द्र

[स्वतन्त्र भारत के सर्वप्रथम लोकप्रिय राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर सम्बन्धी कुछ मधुर और उपदेशपूर्ण संस्मरण लिखे है, उन्हें ही यहाँ उदधृत किया जा रहा है।]

जब मुझे पहले-पहल कवीन्द्र-रवीन्द्र के दर्शन हुए थे, तब मै कलकत्ते के प्रेसिडेसी कालेज मे विद्यार्थी था। कालेज की यूनियन की ओर से एक स्टीमर-पार्टी की आयोजना की गई और उसमे कालेज के प्रोफेसर और विद्यार्थियो के अतिरिक्त बाहर के कतिपय गण्यमान्य सज्जन भी आमन्त्रित किए गए थे। उनमे कवीन्द्र भी थे और वे प्राय: ४-५ घटो तक हम सब के बीच उस स्टीमर पर रहे। कालेज के विद्यार्थी उनकी कविताएं बहुत पढा करते थे और मै भी सुना करता था। उनमे दो विचारों के लोग थे। कुछ तो उनकी कविता पर इतने मुग्ध थे कि वे उनको सबसे बड़ा कवि मानते थे। कुछ उनकी कविता की फब्तियाँ उडाया करते थे और मुझे आज भी स्मरण है कि आपस मे कभी-कभी गर्मागर्म बहस हुआ करती थी। ऐसे एक प्रसिद्ध और बड़े कवि को अपने बीच मे पाकर हम विद्यार्थीगण अपने को बहुत भाग्यशाली मानने लगे। विद्यार्थी तथा दूसरे सब लोगो ने कवीन्द्र से आग्रह किया कि वे सगीत सुनावे। उन्होने अपने सहज-स्वभाव से इस आग्रह को मान लिया। यद्यपि आज मुझे याद नही है कि कौन-सा गीत उन्होंने गाया, पर अभी भी वह सुरीली आवाज भूलती नही है। हम लोगो ने उनसे कई गीत सुने।

उन दिनों का एक दूसरा संस्मरण और है। बंगाल में स्वदेशी की धूम थी। कवीन्द्र ने 'समाज' नामक अपना लेख एक सार्वजनिक सभा में पढ़ा था। उसके बाद तो वह पुस्तकाकार छप गया और शायद उसके कई संस्करण भी हो गए होंगे। जब वह पहले-पहल पढ़ा गया था, उसने बड़ी खलबली मचा दी थी, और मुझे याद है कि एक बड़ी सभा में कवीन्द्र ने उसे अपनी सुरीली और भरी आवाज में स्वयं पढ़कर सुनाया था और हमारे दिल पर उसका बड़ा असर पड़ा था।

इस प्रकार यद्यपि दूर से उनके दर्शनों का सौभाग्य मुझे बहुत दिन पहले अपने विद्यार्थी-जीवन में ही मिला था, पर निकट का साक्षात् बहुत दिनों के बाद यरवदा-जेल में गाँधीजी के अनशन समाप्त करने के समय हुआ। ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्रीमैकडोनल्ड ने साम्प्रदायिक फैसला (Communal Decision) देकर केवल हिन्दुओं और मुसलमानों में ही फूट को स्थायी रूप देने का प्रबन्ध नहीं किया—बल्कि अगर वह फैसला पूरा-का-पूरा रह जाता, तो हिन्दुओं में भी सवर्ण और असवर्ण के बीच एक बड़ी खाई हमेशा के लिये कायम हो जाती। गाँधीजी ने कहा था कि वे उस फैसले को अपनी जान देकर भी रद्द करायेंगे। उसी भीषण प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए उन्होंने अनशन किया था। जब हरिजन लोगों के साथ समझौता हो गया, तब उन्होंने अनशन तोड़ा। गुरुदेव अनशन की खबर सुन चिन्तित होकर यरवदा पहुँचे और उनके यरवदा पहुँचते ही खबर आ गई कि मि० मैकडोनल्ड ने समझौता स्वीकार कर लिया और अब गाँधीजी को अनशन जारी रखने की आवश्यकता नहीं है। गुरुदेव ने अपने हाथों से ही नारंगी का रस देकर उस उपवास को समाप्त कराया था और रस देने के पहले एक मर्मस्पर्शी प्रार्थना भी की थी। उस जेलखाने के भीतर के दृश्य को उन दिनों के लोगों ने बहुत भव्य शब्दों में दिखाया है और स्वयं उन्होंने भी उसका वर्णन लिखा है।

उसी अवसर पर पूना में एक बडी सभा हुई, जिसमें गुरुदेव पधारे थे। सभा में भीड बहुत बड़ी थी। उस भीड में गुरुदेव को बहुत कष्ट हुआ, और मैं देखता था कि उनके चेहरे पर उस प्रेमभरे, पर नासमझ प्रदर्शन का असर बहुत पड रहा था। वहाँ पर मैंने देखा कि अब उनकी अवस्था ऐसी नहीं रही कि वे बहुत बडी भीड़ में जाकर भाषण दे सकें।

वैसा ही दृश्य कई वर्षों के बाद मैंने पटना स्टेशन पर देखा, जब वे एक बार पटना आए। वहाँ भी उनके स्वागत के लिये बहुत बड़ी भीड इकट्ठी हो गई थी और डब्बे में से उनको सुरक्षित उतारना कठिन हो गया था। भीड लगाने वालों में मैं भी एक था। बडी मुश्किल से लोगों की कृपा से मैं डब्बे तक पहुँचाया गया और उनको सुरक्षित वहाँ से लाकर मोटर में बिठा सका।

पटने की इस यात्रा में उन्होंने शान्तिनिकेतन के लिये चन्दा जमा किया और इसके लिये वहाँ नृत्य-कला का एक अभूतपूर्व प्रदर्शन भी किया। मुझसे बहुत देर तक शान्तिनिकेतन-सम्बन्धी बातें भी एकान्त में हुईं। उस समय शान्तिनिकेतन-सम्बन्धी आर्थिक चिन्ता में वे थे और उसे दूर करने के लिये ही वे शान्तिनिकेतन के बालक-बालिकाओं के साथ निकले थे। मैं उनको रंगमंच पर कुर्सी पर बैठे देखता था और बीच-बीच में उनकी सुरीली आवाज सुनता था। कभी-कभी वे खुलकर कुछ गा दिया करते थे। जो असर उसका दिल पर पडता था, वह तो पड़ता ही था, पर मैं बराबर दूसरे सोच में पडा था। हमारा सौभाग्य है—मैं सोचता था—कि आज भी हमारे बीच में ईश्वर की दया से एक विश्वकवि मौजूद है, जिसने अपनी वाणी से अपने को ही नहीं, इस देश की कीर्ति को भी अमर बना दिया है। कला की सेवा के लिये उसका रंगमंच पर आना स्वाभाविक और उत्साहवर्द्धक है; पर क्या उसको अपनी प्यारी संस्था के लिये, जिसके निमित्त उसने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है, इस प्रकार

रंगमंच पर आकर अपनी वृद्धावस्था में इतना कष्ट उठाना देश के लिये शोभा की बात है ? क्या यह देश इस योग्य है कि ऐसा महान् व्यक्ति इसकी सेवा करे । मुझे बहुत दुःख हुआ । मैं वहाँ से दिल्ली गया, जहाँ गाँधीजी उन दिनों ठहरे हुए थे । मैंने उनसे ये बातें कहीं और कुछ दिनों के बाद जब हम वहाँ ही थे, गुरुदेव अपने दलबल के साथ वहाँ भी उसी निमित्त पहुँचे । गाँधीजी ने उनके वहाँ आने का समाचार सुनकर और उनकी यात्रा का उद्देश्य जानकर पहले से ही मित्रों से बातें शुरू कर दी थी, जिससे उनके वहाँ पहुँचने पर उस समय की उनकी आर्थिक चिंता दूर हो गई ।

यद्यपि मैं दूर सेही उनकी पूजा किया करता, फिर भी उनकी कृपा मुझपर न जाने क्यों और कैसे बनी रहती थी । उन्होंने मुझे शान्तिनिकेतन आने के लिये विशेष रूप से आज्ञा दी और मैं वहाँ दो-तीन दिनों तक जाकर रहा भी । वे दिन मेरे लिये चिरस्मरणीय हैं; क्योंकि मैंने उन संस्थाओं को केवल अच्छी तरह से देखा ही नहीं, बल्कि वहाँ की सब बातों का अध्ययन करने का सुअवसर भी मुझे मिला । आज भी जब वे इस संसार में नहीं रहे, मैं अपने से वही प्रश्न पूछता हूँ, जो मैंने पटने में थियेटर में बैठे-बैठे और उनकी कला देखते-देखते पूछा था——क्या इस देश के लिये ऐसे महान् व्यक्ति की एक महान् कीर्ति को स्थायी रूप से कायम रखना कोई इतनी बड़ी और कठिन समस्या है ? क्या जिस संस्था के लिए कवीन्द्र ने सर्वस्व त्याग किया, उसको देश उन्नत और उचित स्मारक-रूप देकर हमेशा के लिये कायम नहीं रखेगा ? मैं तो मानता हूँ कि उनकी कृतियों ने उनको और इस देश को चिरकाल के लिये अमर बना दिया है, तो भी उनकी कृतियों का स्थूल स्वरूप हम उनके द्वारा शान्तिनिकेतन में स्थापित संस्थाओं में ही देख सकते हैं और उनको ही पुष्ट और दृढ़ बनाना, उनको ही अर्थचिंता से मुक्त करना; सब से सुन्दर और सबसे योग्य स्मारक होगा । इसके लिये जो प्रयत्न हो रहा है, वह स्तुत्य है और मुझे विश्वास है कि देश इस प्रकार से इस ऋषि-ऋण से अपने आप को कुछ हद तक मुक्त कर सकेगा ।

अमर कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बचपन की

आत्मकथा

मैने जन्म लिया था पुराने कलकत्ते मे। शहर में उन दिनों छकडे छड़-छड करते हुए धूल उड़ाते दौडा करते और रस्सीवाले चाबुक घोड़ों की हड्डी निकली पीठ पर सरासर पड़ा करते। न ट्राम थी, न बस और न मोटर-गाडी। उन दिनों कामकाज की ऐसी दम फुला देनेवाली ठेलमठेल नहीं थी। इतमीनान से दिन कटा करते थे। बाबू लोग तम्बाकू का कश खींचकर पान चबाते-चबाते आफिस जाते—कोई पालकी में और कोई साझे की गाड़ी मे। जो लोग पैसेवाले थे, उनकी गाड़ियों पर तमगे लगे होते। चमड़े के आधे घूँघटवाले कोचबक्स पर कोचवान बैठा करता, जिसके सिर पर बाँकी पगडी लहराती रहती। पीछे की ओर दो-दो सईस खड़े रहते, जिनकी कमर मे चॅवर झूलते होते। स्त्रियों का बाहर आना-जाना बन्द दरवाजे की पालकी के दम घुटा देनेवाले अँधेरे मे हुआ करता। गाड़ी पर चढना शर्म की बात थी। धूप और वर्षा में उनके सिर पर छाता नही लग सकता था। किसी के बदन पर शेमीज और पैर मे जूता दिख गया तो इसे मेमसाहबी फैशन कहा जाता। मतलब यह होता कि इसने लाज-हया घोलकर पी ली है। कोई स्त्री यदि अचानक पर-पुरुष के सामने पड़ जाती तो उसका घूँघट सटाक-से नाक की फुनगी को पार कर जाता और वह जीभ दाँतो तले दबाकर झट पीठ फिरा देती। घर मे जैसे उनका दरवाजा बन्द हुआ करता, वैसे ही बाहर निकलने की पालकी मे भी। बड़े आदमियो की बहू-बेटियों की पालकी पर एक मोट घटाटोप-सा पर्दा पड़ा रहता, जो देखने में चलते-फिरते कब्रगाह के समान लगता। साथ-साथ पीतल की गोपवाली लाठी लिए दरबानजी चला करते। इनका काम था दरवाजे पर बैठकर घर अगोरना गलमुच्छे सहलाना और रिश्तेदारी में स्त्रियों को पहुँ-

चाना और त्योहार के दिन बन्द पालकी समेत मालकिन को गंगा में से डुबकी लगवा लाना। दरवाजे पर फेरीवाले अपना सन्दूकचा सजा के आया करते, जिसमें शिवनन्दन का भी हिस्सा हुआ करता। और फिर भाड़े-वाली गाड़ी का गाड़ीवान था, जो बाँट-बखरे के मामले में नाराज होता तो ड्योढ़ी के सामने पूरा टट खड़ा कर देता। बीच-बीच में हमारा पहलवान जमादार शोभाराम बाँह कसता, वजनदार मुगदर घुमाता, बैठा-बैठा भंग घोटता और कभी-कभी बड़े आराम से पत्ते समेत कच्ची मूली चबा जाता, और हम-लोग उसके कान के पास जोर से चिल्ला उठते—'राधाकृष्ण'। वह जितना ही 'हाँ-हाँ' करके हाथ-पैर पीटता, उतनी ही हमारी जिद्द बढ़ती जाती। इष्ट देवता का नाम सुनने की यह उसकी फंदी थी।

उन दिनों शहर में न तो गैस थी, न बिजली-बत्ती। बाद में जब मिट्टी के तेल का उजेला आया तो हम उसका तेज देखकर हैरान हो रहे। साँझ को फरास आता और घर-घर रेंडी के तेल का दीया जलाया जाता। हमारे पढ़ने के घर में दो-दो बातियों का एक दीया दीवट पर जला करता।

मास्टर साहब टिमटिमाते प्रकाश में प्यारी सरकार की फर्स्ट बुक पढ़ाया करते। मुझे पहले तो जम्हाई आती, फिर नींद, और फिर आँख की मींजाई शुरू होती। बार-बार सुनना पड़ता कि मास्टर साहब का कोई एक दूसरा विद्यार्थी सतीन—लड़का क्या है, सोने का टुकड़ा है। पढ़ाई में ऐसा दिल लगाता है कि लोग अचरज करते हैं। नीन्द आती है तो आँखों में सुर्ती की बुकनी रगड़ लेता है। और मैं? न कहना ही अच्छा है। सब लड़कों में अकेले मूर्ख होकर रहने के समान गन्दी भावना भी मुझे होश में न ला पाती। रात के नौ बजे जब आँखें नीन्द से ढुलमुला जाती, तब छुट्टी मिलती। बाहर के बैठकखाने से घर के भीतर जाने के सँकरे रास्ते पर झिलमिल (वेनेशियन ब्लिड) का पर्दा टँगा होता और ऊपर टिमटिमाते

हुए प्रकाश के लान्टेन झूला करते । जब मैं उधर से गुजरता तब दिल कहता कि न जाने क्या पीछा कर रहा है । पीठ सनमना उठती । उन दिनों भूत-प्रेत किस्से-कहानियों मे रहा करते और आदमी के मन के कोने-कोने मे विराजमान होते । कोई महरी अचानक चुडैल की नकियान सुनाती और धडाम से पछाड़ खाकर गिर पड़ती । यह भूतनी ही सबसे अधिक बदमिजाज थी । यह मछली पर ज्यादा चोट करती थी । घर के पश्चिमी कोने पर एक घने पत्तोंवाला बादाम का पेड़ था । एक पैर इसकी डाल पर और दूसरा पैर तितल्ले के कार्निस पर रखकर कोई एक मूर्त्ति प्राय ही खडी रहा करती—इसे देखा है, ऐसा कहनेवाले उन दिनों अनेक थे । विश्वास करनेवाले भी कम नही थे । बड़े दादा के एक मित्र जब इन गप्पों को हँसकर उडा देते तो नौकर-चाकर समझते कि इस आदमी को धरम-करम का ज्ञान एकदम ही नहीं; जब एक दिन गर्दन मरोड़ देगा तो सारा ज्ञान बघारना निकल जायगा । आतंक ने उन दिनों चारों ओर अपना जाल ऐसा फैला रक्खा था कि मेज के नीचे पैर रखने से पैर सनसना उठते थे ।

तब पानी का नल नही लगा था । माघ-फागुन के महीने मे कहार कावर भर-भरकर गंगा से पानी लाते थे । एकतल्ले के अँधेरे घर मे बड़े-बडे कुंडे रखे हुए थे । इन्ही मे साल भर के लिये पानी रखा रहता । उन सीडभरी अँधेरी कोठरियों मे जो लोग डेरा डाले हुए थे, कौन नही जानता कि वे मुँह बाए रहते थे, आँखे उनकी छाती पर हुआ करती थीं, दोनों कान सूप के समान होते थे और दोनों पैर उल्टी तरफ मुड़े हुए होते थे । मै उस भुतही छाया के सामने से मकान के भीतर के बगीचे की ओर जाता, तो हृदय के भीतर उथल-पुथल मच जाती, पैर मे तेजी आ जाती ।

उन दिनों रास्ते के किनारे-किनारे नाले बँधे हुए थे । ज्वार के समय उसी से होकर गंगा का पानी आया करता । बाबा के जमाने से ही उस

नाले के पानी का हकदार, हमारा तालाब रहता आया था। जब किवाड खोल दिए जाते, तो झर-झर कल-कल करता हुआ पानी झरने के समान झरता और नीचे का हिस्सा फेन से भर जाता। मछलियों को उलटी तरफ तैरने की कसरत दिखाने की सूझती। मै दक्षिण के बरामदे की रेलिग पकडकर अवाक् होकर देखा करता। आखिर उस तालाब का काल भी आ पहुँचा और उसमें गाड़ियों मे भर-भर कर गन्दगी डाली जाने लगी। तालाब के पटते ही देहाती हरियाली का छायावाला वह आईना भी मानो हट गया। बादामवाला पेड़ अब भी खडा है; लेकिन पैर फैलाकर खडे होने की सुविधा होते भी उस ब्रह्मदैत्य का पता अब नही चलता।

भीतर और बाहर प्रकाश बढ़ गया है।

पालकी दादी के जमाने की थी—काफी लम्बी-चौडी, नवाबी कायदे की। दोनों डण्डे आठ-आठ कहारों के कन्धे की माप के थे। हाथो मे सोने के कगन, कानो मे सोने के कुण्डल और शरीर पर लाल रंग की हथकट्टी मिरजई पहननेवाले वे कहार भी पुरानी धन-दौलत के साथ उसी तरह लोप हो गए, जैसे डूबते हुए सूर्य के साथ ही रगीन बादल। पालकी के ऊपर रगीन लकीरोके कटाव कटे हुए थे। जिसके कुछ हिस्से घिस-घिसाकर नष्ट हो गए थे। जहाँ-तहाँ दाग लगे हुए थे और भीतर के गद्दे में से नारियल के झिरकुट बाहर निकल आए थे। यह मानो इस जमाने का कोई नाम-कहा असबाब था, जो खजाची-खाने के एक कोने मे डाल दिया गया था। मेरी उम्र इन दिनों सात-आठ साल की होगी। इस संसार के किन्ही जरूरी कामो मे मेरा कोई हाथ नही था और यह पुरानी पालकी भी सभी जरूरत के कामो से बरखास्त कर दी गई थी। इसीलिये उसपर मेरे मन का इतना खिचाव था। वह मानो समुद्र के बीच का एक छोटा-सा टापू थी और मै छुट्टी के दिन का राबिन्सन क्रूसो, जो बन्द दरवाजे मे गुमराह होकर चारों ओर की नजर बचाकर बैठा होता।

उन दिनों हमारा घर आदमियों से भरा था। कितने अपने, कितने पराये, कुछ ठीक नहीं। परिवार के अलग-अलग कई महकमों के दास-दासियों का शोर-गुल बराबर मचा रहता था।

सामने के आँगन से पियारी महरी काँख-तले टोकरी दबाये साग-भाजी का बाजार किए आ रही है। दुक्खन कहार कन्धे पर काँवर रखकर गंगा का पानी ले आ रहा है। ताँतिन नए फैशन की पाड़वाली साड़ी का सौदा करने घर के भीतर घुसी जा रही है। माहवारी मजूरी पानेवाला दीनू सुनार, जो पास की गली में बैठा-बैठा भाथी फसफसाया करता है और घर की फर्माइशें पूरी करता है, खजांची-खाने में कान में पाँख की कलम खोसे हुए कैलाश मुखुज्जे के पास अपने बकाया का दावा करने चला आ रहा है। आँगन में बैठा हुआ धुनिया पुरानी रजाई की रूई धुन रहा है। बाहर काने पहलवान के साथ मुकुन्दलाल दरबान लस्टम-पस्टम करता हुआ कुश्ती के दाँव-पेच भर रहा है। चटाचट आवाज के साथ दोनों पैरों में चपेटा मारता जा रहा है और बीस-पचीस बार लगातार डण्ड पेल लेता है। भिखारियों का दल अपने हिस्से की भीख के आसरे में बैठा हुआ है।

दिन बढ़ता जा रहा है, धूप कड़ी होती आती है, ड्योढ़ी पर घण्टा बज उठता है। पर पालकी के भीतर का दिन घण्टे का हिसाब नहीं मानता। वहाँ का 'बारह बजे' वही पुराने जमाने का है, जब राजभवन के सिंहासन पर सभा-भंग का डंका बजा करता, राजा चन्दन के जल से स्नान करने उठ जाते। छुट्टी के दिन दोपहरी को मैं जिनकी देख-रेख में हूँ, वे सभी खा-पीकर सो रहे हैं। अकेला बैठा हूँ। चलने का रास्ता मेरी ही मर्जी पर निकाला गया है। उसी रास्ते मेरी पालकी दूर-दूर के देश-देशान्तर को चली है। उन दिनों के नाम मैंने ही अपनी किताबी विद्या के अनुसार गढ़ लिए हैं। कभी-कभी रास्ता घने जंगल के भीतर घुस जाता है—(जहाँ) बाघ की आँखें चमक रही हैं। शरीर सनसना रहा है। साथ में विश्वनाथ शिकारी है वह उसकी बन्दूक

धाँय से छूटी । बस, सब चुप । इसके बाद एक बार पालकी का चेहरा बदल गया । वह बन गई मोरपंखी बजरा, वह चली समुद्र में । किनारा दिखाई नहीं देता । डाँड़ पानी में गिर रहे हैं—छप्-छप् छप्-छप् । लहरें उठ रही हैं—हिलती-डुलती, फूलती-फुफकारती । मल्लाह चिल्ला उठते हैं—सम्हालो, सम्हालो, आँधी आई । पतवार के पास अब्दुल माझी बैठा है—नुकीली दाढ़ी, सफाचट मूँछें, घुटी चाँद । इसे मैं पहचानता हूँ । वह दादा के लिए पद्मा में से मछली ले आ देता है और ले आता है कछुए के अण्डे ।

उसने मुझे एक कहानी सुनाई थी । एक दिन चैत के महीने के अन्त में, जबकि वह डोंगी से मछली मारने गया था, अचानक काल-वैशाखी की आँधी आ गई ।

भयंकर तूफान । नाव तब डूबी, अब डूबी । अब्दुल ने दाँत से रस्सी पकड़ी और कूद पड़ा पानी में । तैरकर रेती पर आ खड़ा हुआ और रस्सी से खींचकर अपनी डोंगी निकाल लाया ।

कहानी इतनी जल्दी खतम हो गई, यह मुझे अच्छा नहीं लगा । नाव डूबी नहीं, यों ही बच गई, यह तो कोई कहानी ही नहीं हुई । बार-बार पूछने लगा, फिर क्या हुआ ? उसने कहा—फिर तो एक नया टण्टा खड़ा हो गया । क्या देखता हूँ कि एक लकड़बग्घा है । ये बड़ी-बड़ी उसकी मूँछें हैं । आँधी के समय उस पार के गंजघाटवाले पाकड़ के पेड़ पर चढ़ गया था । इधर आँधी का एक झोंका लगा, उधर सारा पेड़ पद्मा नदी में आ गिरा । और बाघ राम बह चले पानी की धार में । पानी पीते-पीते उसका दम फूल गया था । वह उसी रेती पर आ खड़ा हुआ । उसे देखते ही मैंने अपनी रस्सी में फँसरी लगाई । वह पट्ठा भी बड़ी-बड़ी डरावनी आँखें लाल किए हुए ठीक मेरे सामने आ खड़ा हुआ । तैरने में उसे भूख लग आई थी । मुझे देखते ही

उसकी लाल-लाल जीभ से लार टपकने लगी। बाहर और भीतर के बहुतेरों से उसकी जान-पहचान हो गई है। पर बच्चा अब्दुल को नहीं पहचानते। मैंने ललकारा, आ जाओ बच्चाराम। इधर वह दोनों पैरों पर खड़ा होता है, उधर मैंने गले मे फँसरी डाल दी। छुड़ाने के लिये बच्चू जितने ही छटपटाते है, उतनी ही फँसरी कसती जाती है। अन्त में जीभ निकल आई। यहीं तक सुनकर मैं हड़बड़ाकर बोल उठा—अब्दुल, वह मर गया क्या? अब्दुल बोला—मरेगा कैसे? उसके बाप की मजाल है! नदी मे बाढ़ आई है। बहादुरगंज तक तो लौटना है न? डोंगी में बाँधकर इस बाघ के पट्ठे से कम-से-कम बीस कोस रास्ता खिंचवाया। गों-गों करता रहता था और मैं ऊपर से पेट में डाँड़ से खींचता रहता था। दस-पन्द्रह घंटे का रास्ता डेढ़ घंटे में पहुँचा दिया। इसके बाद की बात अब मत पूछो लल्ला, जवाब नहीं मिलेगा। मैंने कहा, बहुत अच्छा। बाघ तो हुआ, अब घड़ियाल की कहो। अब्दुल ने कहा—पानी के ऊपर उसकी नाक की फुनगी मैंने कई बार देखी है। नदी के ढालुए किनारे पर जब वह पैर फैलाकर सोया हुआ धूप तापता रहता है, तो जान पड़ता है कि बड़ी बुरी हँसी हँस रहा है। बन्दूक होती, तो मुकाबला किया जाता। लाइसेंस खतम हो गया है।

लेकिन एक मजेदार बात हुई। काँची बेदनी तीर पर बैठी दाव से बत्ता छील रही थी। उसका मेमना पास ही बँधा था। न जाने कब एक घड़ियाल नदी से बाहर निकला और मेमने की टाँग पकड़कर उसे पानी में घसीट ले गया। बेदनी झट कूदकर उसकी पीठपर सवार हो गई। दाव से उस गिर-गिट दैत्य (घड़ियाल) के गले पर लगी छेव मारने। और मेमना को छोड़कर वह जन्तु पानी में डूब गया। मैंने व्यस्त होकर पूछा—फिर क्या हुआ? अब्दुल ने कहा उसके बाद की खबर तो पानी मे ही डूब गई। निकालकर

बाहर लाने में देर लगेगी । दूसरी बार जब भेंट होगी, तो चर भेजकर उसकी तलाश कराऊँगा । लेकिन वह फिर लौटा नहीं । शायद तलाश करने गया है ।

यह तो थी पालकी के भीतर मेरी यात्रा । पालकी के बाहर मेरी मास्टरी चलती । सारे रेलिंग मेरे विद्यार्थी थे । मारे डर के चुप रहा करते । एकाध बड़े शरारती थे । पढने-लिखने मे बिलकुल मन नही लगाते थे । उन्हे मै डर दिखाया करता कि बडे होने पर कुली का काम करना पडेगा । मार खाते-खाते इनके शरीर मे नीचे से ऊपर तक दाग निकल आए थे, फिर भी इनकी शरारत जाती नही थी; क्योंकि यदि इनकी शरारत रुक जाती तो काम कैसे चलता, खेल ही खत्म हो जाता । काठ के एक सिह को लेकर और खेल भी था । पूजा मे बलिदान की कहानी सुनकर सोचा था सिह को बलि देने पर एक भारी बवाला खड़ा हो जायगा । उसकी पीठ पर लकड़ी से कई झटके मारे । मन्तर बना लेना पड़ा था, नही तो पूजा ही न हो पाती—

सिंगि (सिंह) मामा काटुम
आन्दिबोसेर बाटुम
उलकुट् ढुलकुट् ढैमकुड़कुड
आखरोट बाखरोट खट-खट खटास
पटपट पटास ।

इसमें प्राय सभी शब्द उधार के थे । केवल 'आखरोट' (= अखरोथ) मेरा नाम है । अखरोट मुझे बहुत पसंद थे । खटास शब्द से जान पड़ेगा कि मेरा खड्ग काठ का था और पटास शब्द बता देता है कि वह मजबूत नही था ।

कह चुका हूँ कि तब कलकत्ता शहर की चहल-पहल आज-जैसी नही थी । आजकल सूरज के उजेले का दिन ज्यो ही खतम हुआ कि बिजली के उजेले का

दिन शुरू हो जाता है। उस समय शहर मे काम तो कम होता पर विश्राम बिलकुल नहीं। मानों चूल्हे में जलती हुई लकड़ी के बुझ जाने पर भी कोयले की आँच रह गई हो। उस समय तेलकल नही चलते, स्टीमर की सीटी बन्द हो गई होती है, कारखाने से मजदूर निकल गए होते हैं और पाट की गाँठ ढोनेवाले गाड़ी के भैंसे टीन की छतवाले शहरी खरिक मे चले जाते है। दिन भर अनेक चिन्ताओं से जिस शहर का माथा धधकती हुई आग बना हुआ था, उसकी नाड़ी मानो अब भी धधक रही है। रास्ते के दोनो ओर की दूकानों की खरीद-बिक्री वैसी ही है, मानों आग थोड़ी-सी राख से ढँकी हुई है। तरह-तरह की आवाजे करती हुई गाड़ियाँ चारों ओर छूट रही है। इनकी दौड के पीछे मतलब या गरज की धकेल कम हो जाती है। हमारे उस पुराने जमाने मे दिन के खत्म होते ही काज-कर्म की बचतवाला हिस्सा शहर की बत्ती बुझी निचली तह मे काली कमली तानकर चुपचाप सो रहता। इडेन गार्डेन और गंगा के किनारे शौकीन लोगों को हवा खिलाकर लौटती हुई गाड़ियो के सईसों की होऽ होऽ आवाजें रास्ते में से सुनाई देती। चैत बैसाख के महीने मे रास्ते में फेरी लगानेवाले हाँक देते रहते—'बरिफ'। एक हाँडी में बर्फ दिया हुआ नमकीन पानी हुआ करता, जिसमे टीन के चोंगो मे वह चीज बन्द रहती, जिसे कुलफी का बर्फ कहा जाता था। आजकल उसे आइस या आइस-क्रीम कहते है। रास्ते की ओर मुँह करके बरामदे में जब मैं खड़ा होता और वह आवाज सुनाई देती, तो मन कैसा होने लगता था, यह मन ही जानता है। और एक आवाज थी 'बेल-फूल'। न जाने, क्यो आजकल वसन्तकाल के मालियों की उन फूल-डालियों की खबर नहीं मिलती, उन दिनों घरवालियो के जूडे से बेले की माला की खुशबू हवा में फैल जाया करती। हाथ-मुँह धोने जाने के पहले स्त्रियाँ घर के सामने बैठकर हाथ में आईना लिए हुए केश सवाराती। बिनाई की हुई पाटी से बड़ी कारीगरी से जूड़े बाँधे जाते। उनके

पहनाव में फराशडांगा की काली किनारीवाली साड़ी होती, जिसे चुनकर लहरदार बना दिया जाता। नाइन आती और झाँवे से पैर रगड़कर महावर दे जाती। ये नाइनें ही स्त्रियों के दरबार में खबर फैलाने के काम आती। उन दिनों कालेज और आफिस से लौटे हुए दल ट्राम के पावदान पर धक्का-मुक्की करते हुए फुटबाल के मैदान की ओर भागा नहीं करते थे और लौटती बार उनकी भीड़ सिनेमाहाल के सामने भी नहीं जमती थी। नाटक के अभिनय में एक बार उत्साह दिखा था, पर क्या बताऊँ, उन दिनों हम बच्चे थे।

उस समय बड़ों के दिलबहलाव में बच्चे दूर से भी हिस्सा नहीं बँटा पाते थे। हम कभी हिम्मत करके नजदीक पहुँच भी जाते, तो सुनना पड़ता कि जाओ, खेलो। और फिर भी यदि लड़के खेलते समय जैसा चाहिए वैसा हल्ला-गुल्ला करते, तो सुनना पड़ता—हल्ला मत करो, चुप रहो। यह बात नहीं है कि बड़ों का हँसी-खेल सब समय चुपचाप ही होता हो। इसीलिये कभी-कभी दूर से उसमें का कुछ झरने के फेन के समान हमारी ओर छिटक ही पड़ता। मैं जब इस घर के बरामदे से झुककर उधर ताकता, तो देखता कि वह घर प्रकाश से चमक रहा है। ड्योढ़ी के सामने बड़ी-बड़ी बग्घियाँ आकर खड़ी हुई हैं। सदर दरवाजे पर बड़े भाइयों में से कोई अतिथियों की आगवानी करके ऊपर ले जा रहे हैं। गुलाबपाश से उनपर गुलाब छिड़क देते हैं और हाथ में फूलों का एक तोड़ा दे रहे हैं। कभी-कभी नाटक से किसी कुलीन महिला की रुलाई की सिसकन की भनक आ जाती, इसका मर्म मेरी समझ में कुछ नहीं आता था। समझने की इच्छा प्रबल हो उठती। बाद में खबर पाता कि जो सज्जन सिसक रहे थे, वे कुलीन जरूर थे; पर महिला नहीं, मेरे बहनोई थे। उन दिनों के समाज में जिस प्रकार स्त्रियाँ और पुरुष तो दो सीमाओं पर दो ओर पड़े हुए थे, ठीक उसी प्रकार दो सीमाओं पर थे बड़े और छोटे। बैठकखाने के झाड़-फानूस के प्रकाश में नाच-गाना चला करता, बड़ों का दल गड़गड़े का कश लगाता रहता, औरतें हाथ में पनडब्बा लिए

झरोखे के उस ओर छिपी रहती, वही बाहर की स्त्रियाँ भी आ जुटती और फिसिर-फिसिर करके गृहस्थी की खबरें चलती रहती। लड़के उस समय बिछौनों पर होते। पियारी या शकरी कहानी सुनाती रहती, कान में भनक पडती—'जैसे चाँदनी मे फूल फूटा हो।'

मकान के भीतरवाली चहारदीवारी-घिरी छत याद आती है। सन्ध्या समय माँ चटाई बिछाकर बैठी हुई हैं, उनकी संगिनियाँ उन्हे चारों ओर घेर कर बातें कर रही है। इस बातचीत के सिलसिले मे विशुद्ध समाचार की कोई जरूरत नही हुआ करती थी। सिर्फ समय काटने से मतलब हुआ करता था। उन दिनों दिन के समय को भर लेने के लिये नाना दाम के, नाना भाँति के माल-मसालों की आमद नही हुआ करती थी। दिन ठोस बुनाई किया हुआ नही था, बल्कि बड़े-बड़े सूराखवाली जाल की भाँति था। चाहे पुरुषो की मजलिस हो या स्त्रियों की बैठक, बातचीत, हँसी-मजाक सब हल्के दामो के हुआ करते थे। माँ की सबसे प्रधान संगिनियो मे थी बज आचार्जी की बहन, जिन्हे 'आचार्जिनी' कहकर पुकारा जाता था। वे ही इस बैठक मे दैनिक खबर सप्लाई किया करती थी। प्राय. दुनिया भर की अजीब खबरे इकट्ठी करके या बनाकर ले आती। इन खबरो के आधार पर ही ग्रहों की शान्ति और स्वस्त्ययन का हिसाब खब भारी-भरकम खर्च से होता। इस सभा मे मै भी बीच-बीच मे ताजी-ताजी किताबी विद्या की आमदनी किया करता। सुनाता कि सूर्य पृथ्वी से नौ करोड़ मील की दूरी पर है। ऋजुपाठ द्वितीय भाग से अनुस्वार-विसर्ग-समेत वाल्मीकि रामायण के श्लोक सुना देता। माँ को मालूम नही था कि उनके पुत्र का उच्चारण कितना शुद्ध था तथापि उसकी विद्या सूर्य के नौ करोड मील के रास्ते को पार करके उन्हें अचरज मे डाल देती थी। भला ये सारे श्लोक स्वयं नारद मुनि के सिवा और किसके मुँह से सुनाई दे सकते थे।

घर के भीतर की यह छत पूरी-की-पूरी स्त्रियो के दखल मे थी। भाण्डार

के साथ उसका समझौता था। वहाँ धूप पूरी पड़ती और जारक नीबू को भी जला देती। यहाँ स्त्रियाँ पीतल के कठरो में उड़द का पिसान लेकर बैठती और केश सुखाते-सुखाते टपाटप बड़ियाँ खोंटा करती; दासियाँ छोड़े हुए कपड़े कचार कर धूप मे पसार जातीं। उन दिनों धोबी का काम बहुत हल्का था। कच्चे आम की फलियाँ काटकर अमचूर सुखाया जाता, छोटे-बड़े माप के बहुतेरे काले पत्थर के साँचों में थक्के का थक्का आम का रस जमाकर अमावट बनाया जाता, धूप खाए हुए सरसों के तेल में कटहल का अचार पका करता। केवड़े का खैर सावधानी से तैयार किया जाता। इस बात को जो मैं याद रख रहा हूँ, उसका कारण है। जब स्कूल के पंडितजी ने बता दिया कि मेरे घर के केवड़े के खैर का सुनाम उनका सुना हुआ है तो इसका मतलब भी समझने में मुझे कठिनाई नही हुई। जो कुछ उनका सुना हुआ है, वह उन्हे जानना भी चाहिए। इसीलिये घर का नेकनाम बनाए रखने के लिये बीच-बीच मे छिपकर चुपके से छत पर उठ जाता और एकाध केवड़ों में से——क्या बताऊँ? 'चोरी किया करता' कहने से अच्छा है, यह कहूँ कि हथिया लेता; क्योंकि राजे-महाराजे भी जरूरत पड़ने पर——यहाँ तक कि जरूरत न पड़ने पर भी——औरो की चीजें हथिया लेते हैं और जो लोग चोरी किया करते है, उन्हें जेल भेजते है या सूली चढ़ाया करते है। जाड़ों की कच्ची धूप में छत पर बैठकर बात करती हुई स्त्रियों को कौआ भगाने की और समय काटने की भी एक जवाबदेही थी। घर में मैं एकमात्र देवर था। भाभी के अमावट का पहरा और इसके सिवा दस-पाँच खुदरे कामो का साथी अकेला मैं ही था। उन्हे 'वगाधिप-पराजय' पढकर सुनाया करता। कभी-कभी मेरे ऊपर सरौते से सुपारी काटने का भार भी आ पड़ता। मैं खूब पतली सुपारी काट सकता था। बहू ठकुरानी (भाभी) बिलकुल ही नही मानती थी कि मेरे अन्दर और कोई गुण है, यहाँ तक कि चेहरे में भी दोष निकालकर विधाता पर क्रोध करा देती थी। किन्तु मेरा सुपारी काटनेवाला गुण बढ़ा-चढ़ाकर कहने मे उन्हे कोई हिचक

नही थी । नतीजा यह होता कि सुपारी काटने का काम बड़े जोर-शोर से चला करता । उस्का देनेवाले के अभाव में महीन सुपारी काटने वाला हाथ और भी महीन कामों में लग गया है ।

छत पर फैले हुए इन घरेलू कामों में देहात का एक स्वाद था । ये काम उस समय के हैं जबकि घर मे ढेंकी थी, जबकि नारियल की गिरियाँ कुतरी जाती थी, जबकि दासियाँ शाम को बैठकर जंघे पर बत्तियाँ पूरा करती, जबकि पड़ोसी के घर से अठकौर मनाने का निमंत्रण आया करता। आजकल के लड़के स्त्रियों के मुँह से कहानियाँ नहीं सुनते, छपी हुई पोथियों मे खुद पढ लिया करते है । अचार-चटनी आजकल चौक के बाजार से खरीद लाना पडता है जो बोतल मे भरे होते हैं और चपड़ा लगाकर ठेपियों से बन्द किए हुए होते है ।

देहात की एक और छाप चंडीमंडप में थी । वहाँ गुरुजी की पाठशाला लगा करती । केवल घर के ही नहीं, आसपास के पड़ोसियों के लड़कों की विद्या की पहली खुरचन वही ताड़ के पत्तों पर पड़ती । मैंने भी निश्चय ही यही पर 'स्वर अ, स्वर आ' के ऊपर हाथ चलाकर लिखने-पढने का अभ्यास शुरू किया था । किन्तु सौरजगत् के सबसे दूरवाले ग्रह के समान उस शिशु को मन में ले आनेवाले किसी भी दूरबीन से उसे देखना अब संभव नही है ।

इसके बाद पुस्तक पढ़ने की सबसे पहली बात जो याद आती है, वह है षण्डामार्क मुनि की पाठशाला के विषम व्यापार को लेकर । नृसिह अवतार ने हिरण्यकशिपु का पेट फाड डाला है, शायद शीशे के फलक पर खुदा हुआ उसका एक चित्र भी उसी पुस्तक मे देखा था । और फिर याद आते हैं चाणक्य के कुछ श्लोक ।

मेरे जीवन मे बाहर की खुली छत प्रधान छुट्टी का देश था । छोटी से बड़ी उम्र तक के नाना प्रकार के दिन उसी छत पर नाना भाव से कटे है ।

मेरे पिताजी जब घर पर होते तो तितल्ले के एक कमरे मे रहा करते । चिल-कोठे की आड़ मे खड़ा होकर दूर से कितनी ही बार मैने उन्हे देखा है । तब भी, जब सूर्य उगा न होता, वे सफेद पत्थर की मूर्ति के समान चुपचाप बैठे होते और गोद में दोनों हाथ जुड़े होते थे । बीच-बीच में वे बहुत दिनों के लिये पहाड़-पर्वतों पर चले जाते थे, तब उस छत पर जाना मेरे लिये सात समुन्दर पार जाने के आनन्द के समान था । हमेशा निचले तल्ले के बरामदे मे बैठा-बैठा रेलिंग की फाँको में से अबतक रास्ते का आवागमन देखता आया हूँ, लेकिन उस छत पर पहुँचना मानो बस्ती के सीवानी पत्थर को बहुत दूर छोड़ जाने के समान था । वहाँ जाने पर कलकत्ते के सिर पर पैर रखकर मन वहाँ चला जाता है, जहाँ आकाश का अन्तिम नीला रंग धरती की अन्तिम हरियाली में मिल गया है । तरह-तरह के मकानों की तरह-तरह की बनी हुई ऊँची-नीची छतें आँखो मे टकराती रहती है और बीच-बीच में वृक्षो के झुटीले सिर दिख जाया करते है । मैं अक्सर छिपकर दुपहरी को इस छत पर चढ आता था । दुपहरी सदा मेरे मन को लुभाए रही है । यह मानो दिन में की रात है, बालक सन्यासी के वैरागी हो जाने का समय है । खड़खडी के भीतर से हाथ डालकर घर की सिटकिनी खोल देता । दरवाजे के ठीक सामने एक सोफा था; वही अत्यन्त अकेला होकर बैठता । मुझे गिरफ्तार करनेवाले जो चौकीदार थे, वे उस समय पेटभर खाकर ऊँघते होते और अँग-ड़ाई लेते-लेते चटाई पर लुढक गए होते थे । धूप रंगीन हो आती, चील आसमान मे आवाज देकर निकल जाती । सामने की गली से चूड़ीवाला आवाज दे जाता । दुपहरी का वह सन्नाटा अब नहीं है, और न सन्नाटे का वह फेरीवाला ही अब मौजूद है ।

काव्य-रचना

उस समय मेरी अवस्था आठ वर्षो से अधिक नही थी । मेरे पिता की बुआ का एक 'ज्योति' नामक लडका था । वह मुझसे बहुत बडा था । अंग्रेजी

साहित्य में उसने अभी प्रवेश ही किया था, इसलिये वह हेम्लेट का स्वगत-भाषण बड़े आविर्भाव के साथ बोला करता था। यद्यपि मेरी अवस्था छोटी थी तथापि ज्योति को यह विश्वास हो गया था कि मै अच्छी कविता कर सकूँगा। वास्तव मे देखा जाय तो इस प्रकार के विश्वास का कोई कारण न था। एक दिन दोपहर के समय ज्योति ने मुझे अपनी कोठरी में बुलाया और एक कविता की रचना करने के लिये कहा। साथ ही उसके चौदह अक्षरों के वृत्त की रचना भी मुझे बता दी।

उस दिन तक छपी हुई पुस्तक के सिवाय दूसरी जगह मैंने लिखी हुई कविता नही देखी थी। छपी हुई कविता में लिखने की भूल, काटा-काटी, कुछ नही होती। कितना ही प्रयत्न करने पर भी इस प्रकार की कविता मे कर सकूँगा, इस बात की कल्पना करने की धृष्टता भी मुझसे नहीं हो सकती थी। एक दिन हमारे घर मे एक चोर पकड़ा गया। उस समय, चोर कैसा होता है, यह देखने की मुझे बड़ी जिज्ञासा थी। अतः जहाँ पर चोर को पकड कर रक्खा गया था, वहाँ डरते-डरते मै गया। मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वह भी एक सामान्य व्यक्ति की तरह ही है। उसमें और अन्य व्यक्तियों में कुछ भी अन्तर मुझे दिखलाई न पड़ा। इसलिये दरवाजे पर के पहरेवालों को उसके साथ बुरा व्यवहार करते देखकर मुझे बड़ी दया आई। काव्य-रचना के सम्बन्ध मे भी मुझे इसी प्रकार का अनुभव हुआ। पहले तो इस सम्बन्ध में मुझे बडा भय मालूम होता था, परन्तु ज्योति के कहने पर मैंने अपनी इच्छा के अनुसार कुछ शब्द एक स्थान पर एकत्र किए। देखता हूँ तो पामर वृत्त, जिसकी रचना के नियम ज्योति ने मुझे समझा दिए थे, तैयार है। अब तो काव्य-रचना में यश-प्राप्ति होने के सम्बन्ध में मुझे भी सन्देह नही रहा। जिस तरह पहरेदारों को चोर के साथ बुरा व्यवहार करते देखकर मुझे खेद हुआ था उसी प्रकार अयोग्य लोगों के द्वारा देवता की विडम्बना होते

देखकर मुझे आज भी बहुत खेद होता है । देवता के प्रति होनेवाले व्यवहार को देखकर मुझे कई बार अनुकम्पा आई होगी, पर मैं कर ही क्या सकता हूँ ? आक्रमण करने के लिये अधीर होनेवाले हाथों को बलात् रोक रखने की शक्ति मुझ में कहाँ है ? काव्य-देवता को आज तक जितने कष्ट सहने पड़े होंगे उसे जितने हाथों ने कुरूप बनाने की चेष्टा की होगी, उतने कष्ट चोरो को भी नही उठाने पड़े होंगे और न उतने हाथों का उन्हें स्पर्श ही हुआ होगा ।

पहले-पहल मालूम होनेवाला भय जब दूर हो गया तो मैं काव्य-रचना के सम्बन्ध मे स्वत: संचार करने लगा। मुझे रोकनेवाला भी कौन था ? अपनी जमीन्दारी की व्यवस्था करनेवाले एक अधिकारी की कृपा से मैंने नीले कागज की एक सादी किताब प्राप्त की । और उसपर पेन्सिल से लकीरे खीचकर छोटे बालकों के लिखने के समान मैं कविता लिखने लगा । तुरत निकले हुए छोटे-छोटे सीगों के बल इधर-उधर छलाँगे भरनेवाले हिरण के बच्चों के समान मेरी नवोदित काव्य-रचना का मेरे बड़े भाई को इतना अभिमान हुआ कि उन्होंने मेरी उस रचना को एक जगह पडा रहने नही दिया । सारे घर मे उसके लिये हमे श्रोता ढूँढ़ने पड़े । मुझे याद है कि जमीन्दारी के अधिकारियों पर हम दोनों के विजय प्राप्त कर लेने पर जब हम जमीन्दारी के कार्यालय से बाहर निकले तो हमें रास्ते में नेशनल पेपर के सम्पादक नवगोपाल मित्र आते हुए मिले । कुछ प्रस्तावना न करते हुए मेरे भाई ने उनसे कहा—'देखिए नवगोपाल बाबू, हमारे रवि ने एक कविता की है ! वह आप को सुननी चाहिए ।' उत्तर की प्रतीक्षा कौन करता है ? मै तुरत कविता पढने लगा । मेरी काव्य-रचना उस समय परिपक्व नही हुई थी । वह मर्यादित दशा में थी ।

मेरे भाई मेरी कविता के प्रचार के लिये विज्ञापन का काम करते थे । यह कविता कमल-पुष्प पर की गई थी । जितने उत्साह से मैंने इसकी रचना की थी, उतने ही उत्साह से इसे मैंने नवगोपाल बाबू को सुना दिया । नव-

गोपाल बाबू ने हँसते-हँसते कहा—"बहुत अच्छी है पर यह 'द्विरेफ' क्या चीज है ?" द्विरेफ शब्द को मैंने कहाँ से गढ़ा था, यह मुझे याद नहीं है। यद्यपि एकाध दूसरे सादे शब्द से भी वह छन्द जम सकता था, पर उस कविता मे 'द्विरेफ' शब्द पर हमारी आशा का डोरा झूल रहा था। हमारे कार्यालय के कर्मचारियो पर तो इस शब्द ने बहुत ही अधिक प्रभाव डाला था, परन्तु नवगोपाल बाबू ने, आश्चर्य है, कि उस शब्द का कुछ भी मूल्य नही समझा; और इतना ही नहीं, वे साथ ही हँसे भी। उनके इस व्यवहार से मैंने निश्चय किया कि काव्य मे इन महाशय की कुछ भी गति नही है। इसके बाद मैंने फिर कभी उन्हे अपनी कविता नहीं सुनाई। इस बात को हुए आज बहुत वर्ष बीत चुके है और मेरी अवस्था भी बहुत अधिक हो गई है, तो भी मुझे इस बात का ज्ञान अभी तक नही हुआ कि मेरी कविता पढ़नेवालों की रसिकता किस तरह आजमाई जाय; और उन्हे काव्यानन्द प्राप्त हुआ है या नही, यह किस प्रकार समझा जाय। नवगोपाल बाबू भले ही और कितना भी हँसे हों, पर मधुपान में लीन भ्रमर के समान 'द्विरेफ' शब्द अपने स्थान पर चिपटा न रहा।

वर्षा और शरद्-ऋतु

हिन्दू-ज्योतिषशास्त्र के अनुसार प्रत्येक वर्ण का कोई-न-कोई शास्ता माना जाता है। इसी प्रकार मेरे अनुभव की बात है कि जीवन की प्रत्येक अवस्था मे किसी-न-किसी ऋतु का सम्बन्ध रहता ही है और उसे ही विशेष प्रकार का महत्त्व प्राप्त होता है। मेरी बाल्यावस्था की वर्षाऋतु के चित्र मेरे स्मृति-पटल पर ज्यों-के-त्यों मौजूद हैं। हवा के झोंको से पानी भीतर आ रहा है। बरामदे से होकर भीतर जाने के दरवाजे बन्द कर लिए गए है। सिर पर साग की टोकरी लिए हुए हमारी बूढ़ी नौकरानी पीरी पानी से भीगती हुई कीचड मे से निकलने का प्रयत्न कर रही है और ऐसे समय में मै बिना किसी कारण के आनन्द में मग्न होकर बरामदे में इधर उधर चक्कर मार रहा हूँ

ऐसी ही एक बात और मुझे याद है। मै पाठशाला मे हूँ। गैलरी मे हमारी कक्षा लगी हुई है। बाहर चिकें पड़ी है। दोपहर का समय है। इतने मे आकाश बादलो से भरने लगा। हम यह सब अभी देख ही रहे हैं कि जलधारा शुरू हो गई। भय उत्पन्न करने वाली मेघ-गर्जना भी बीच-बीच मे हो जाती है। मालूम पड़ता है कि कोई पागल स्त्री विद्युत-रूपी छुरी हाथ मे लेकर आकाश को इस छोर से उस छोर तक चीर रही है। झञ्झावात से चिकें जोर-जोर से हिल रही है। इतना अन्धकार हो गया है कि बड़ी कठिनाई से हमलोग अपनी पुस्तक पढ़ सकते हैं। पडितजी ने हमे अपनी-अपनी पुस्तके बन्द करने की आज्ञा दे दी। हमारे हिस्से में आई हुई धूमधाम और हाँ-हूँ करने के लिये इस समय हमने मेघों को आम इजाज़त दे रक्खी है। इधर लटककर झूलते हुए अपने पैरो को हम हिला रहे हैं। ऐसे समय में जिस प्रकार किसी काल्पनिक कहानी का नायक राजपुत्र किसी जंगल में भटकता हो, उस प्रकार मेरा मन भी उस अतिदूरस्थ अरण्य मे सीधा चला जा रहा है, ऐसा मालूम होता था।

इसके सिवा श्रावण मास की गम्भीर रातों का मुझे अच्छी तरह स्मरण हो आता है। बीच-बीच मे नीद खुल जाती है। पानी की बूँदें प्रशान्त निद्रा की अपेक्षा अधिक शान्त और आनन्ददायिनी प्रतीत होती हैं। जाग्रत होने पर मै ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि रात भर इसी प्रकार पानी पड़ता रहे। हमारा हौज पानी से लबालब भर जाय और स्नान करने की 'वापी' में इतना पानी आ जाय कि वह ऊपर की सीढी तक आ पहुँचे।

इसके बाद मै जिस अवस्था का वर्णन करता हूँ, उसमे निश्चय ही शरद्-ऋतु का साम्राज्य है। आश्विन मास के शान्त वातावरण मे यह साम्राज्य फैला हुआ दीख रहा है। ओस से भीगी हुई हरियाली के तेज से प्रतिबिम्बित शारदीय सुनहले सूर्य-प्रकाश मे मै बरामदे में चक्कर मारा करता।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ

शरद्-ऋतु का दिन अब ऊपर चढ आया
बजा दिए है। साथ ही साथ मेरे मन की
राग भी बदल गया है। मेरा मन संगीत म
उद्योग या कर्त्तव्य की पुकार के लिये कोई स्थान नहीं र
गीत आगे रचने मे लगा ही हुआ हूँ।

दोपहर के बाद मै अपने कमरे मे चित्र बनाने की पोथी हाथ में ल
चित्र बनाने के प्रयत्न मे लगा हुआ हूँ। यह कोई चित्र-कला का पीछा पकड़ना नही माना जा सकता। यह तो चित्र बनाने की इच्छा के साथ खेल खेलना हो सकता है। इन सबके बीच रहनेवाली असल बात तो मन-के-मन ही रह जाती है। उसका तो नाममात्र भी कागज पर नहीं लिखा जाता। इतने ही मे शरद्-ऋतु का तीसरा पहर कलकत्ते की उन छोटी-छोटी भीतों पर से जाता हुआ दीख पडता है और जाते-जाते मेरे कमरे को सुवर्ण के प्याले के समान उन्माद से भरता जाता है।

खेतों में फसल पक जाने के समान जिस शरद् ने मेरे काव्य की वृद्धि कर उसे पूर्णता को पहुँचाया, जिसने मेरे अवकाश की कोठी को प्रकाश से प्रकाशित कर दिया, पद और गायन रचते समय जिसने मेरे खुले मन पर आनन्द और धैर्य का प्रवाह बहाया, मानो उस शरद्-ऋतु के आकाश मे से ही उस समय के दिनो को मै देख रहा हूँ अथवा मानों मै उस शरद्-प्रकाश के द्वारा अपने जीवन का निरीक्षण कर रहा हूँ, ऐसा मुझे होता था, यह मुझसे नही कहा जा सकता।

मेरी बाल्यावस्था की वर्षाऋतु और तरुणावस्था की शरद्-ऋतु मे एक बडा अन्तर दिखलाई पड रहा है। वह यह कि बालपन मे तो अपने असंख्य साधनो, चमत्कारपूर्ण स्वरूपों तथा नानाविध गायनो के द्वारा मुझे तल्लीन बनाकर आश्चयचकित करनवाली वस्तु बाह्यसृष्टि थी परन्तु तरुण

ऐसी। शरद्-ऋतु के दिव्य प्रकाश में होनेवाले उत्सवों का जनक हमारी ,व्य ही होता है । तरुणाई शरद् में मेघ और सूर्य-प्रकाश की लीलाओ इतने ई नही पूछता । उस समय तो मन आनन्द और दु ख से लबालब कि जाया करता है । शरद्-ऋतु के आकाश को खुल उठने अथवा उसमें ग की छटा फैल जाने के कारण तो उसकी ओर हमारा एकटक से देखना ही है । इसी प्रकार शरद् की वायुलहरों में तीव्रता उत्पन्न करनेवाली वस्तु अंत करण की छटपटाहट ही है ।

अब मेरे काव्य का विषय मानव-प्राणी बन गया है । यहाँ तो पूर्व-परम्परा छोड़ने की गुँजाइश ही नही है, क्योंकि मानवीय रहन-सहन के द्वार तो निश्चित ठहरे हुए है । द्वार के बाद द्वार और दालान के बाद दालान, इस प्रकार एक-सी रचना है । इस राजभवन की खिड़की में अचानक प्रकाश पहुँचने पर भी अथवा द्वार के भीतर से बाह्य नाद कान पर पडते हुए भी हमें कितनी ही बार इस भवन से लौटना पड़ता है । लेन-देन का व्यवहार शुरू होने के पहले मार्ग के कितने ही दुखदायक विघ्नों को हटाना पडता है और मन दूसरा मन बन जाता है, असली नही रह पाता । इच्छा-शक्ति से उसे प्रेम जोड़ना पड़ता है । जीवन का फव्वारा इन विघ्नो पर पडते हुए, उसमे से जो हास्य और अश्रुओं के तुषार उड़ते हैं, उनमे दिशाएँ धूसरित बन जाती हैं । इस फव्वारे मे इतना जोर होता है कि वह बहुत ऊँचे तक उड़ना और जलभँवर के समान एक-सा नाचता रहता है । इस कारण उसके यथार्थ मार्ग की ठीक-ठीक कल्पना किसी को भी नही हो पाती ।

महात्मा गाँधी

[काशी के वयोवृद्ध विद्वान् डाक्टर भगवानदास की विद्वत्ता अगाध है। वे देश के सम्मानित नेता है। अस्सी वर्ष की अवस्था में उन्होंने महात्मा गाँधी के संस्मरण लिखे है, जो बहुत महत्त्वपूर्ण और ज्ञान-वर्धक है। पढ़िए।]

मै पहले-पहल महात्मा जी से कब मिला ? यह सोचना पड़ेगा। मै अस्सी बरस का हुआ, अव स्मरण-शक्ति निर्बल हो चुकी है। मेरा अनुमान है कि मैने पहले-पहल फरवरी के प्रथम सप्ताह मे उनके दर्शन किए थे। लार्ड हार्डिञ्ज ने काशी विश्वविद्यालय का शिलान्यास किया था। महात्मा जी उस समारोह मे उपस्थित थे या नही, यह मुझे स्मरण नही है और न यही स्मरण है कि मैने उस भव्य समारोह में उन्हे देखा था, जिसे लार्ड हार्डिञ्ज ने दिल्ली दरबार का लघु संस्करण कहा था। किन्तु यह निश्चित है कि मैंने उन्हें ८ फरवरी को देखा था, जब उन्होंने महाराजाओं, नवाबों, उच्च सरकारी पदाधिकारियों को खदेड मारा था। काशी विश्वविद्यालय के लिये पैसे से लेकर गिन्नी तक का दान लेनेवाले मालवीयजी ने सब छोटे-बड़ों की सभा ८ फरवरी को बुलाई। उसमें कई रियासतों के राजा भी सम्मिलित हुए। मालवीयजी ने क्रम से एक-एक करके सभी प्रमुख व्यक्तियों से विश्वविद्यालय को दान करने के लिये अपील करने का अनुरोध किया। उन्होंने गाँधीजी से भी अनुरोध किया। गाँधीजी खड़े हुए, उनका भाषण आरम्भ होते ही वहाँ से महाराजाओं, राजाओं इत्यादि का समूह खिसकने लगा।

उसी वर्ष, फिर दूसरी बार मै दिसम्बर में लखनऊ में उनसे मिला। वहाँ मै एक छोटे से तम्बू मे शिवप्रसादजी के साथ ठहरा था। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और लोकमान्य तिलक ने भी काँग्रेस में भाषण किए और काँग्रेस के

इसी अधिवेशन में सीटों के संरक्षण के लिये वह दुखदायी हिंदू-मुस्लिम समझौता हुआ, जिसने अन्त मे देश के टुकड़े करवाए। मैंने महात्मा जी को यहाँ एक कुटिया मे एक दिन सबेरे देखा। कुटिया सम्भवतः छप्पर या बाँस की बनी हुई थी। मैंने झाँककर देखा कि वे एक मोटा-सा गवर्नमेंट गजट पढ़ रहे है। जबतक उन्होंने गजट के लम्बे पन्नों को देखना बन्द न कर दिया, मैं बैठा रहा। उस समय वह कोई निजी सेक्रेटरी नहीं रखते थे; मैं बिना सूचित किए ही पहुँच गया था और मुझे याद नहीं, सम्भवतः हिन्दी अथवा अंग्रेजी में। 'क्या मै अन्दर आ सकता हूँ ?' कहकर अन्दर गया था। कुटिया का द्वार खुला था। उन्होंने धीरे से सर हिलाकर अन्दर आने की अनुमति दी। उनकी आँखे अब भी गजट के पन्नो पर लगी हुई थीं। जब उन्होंने गजट देखने के पश्चात् मेरी ओर देखा तो मैंने हाथ जोड़कर नमस्कार किया। उन्होंने भी उसी प्रकार अभिवादन का उत्तर दिया। तब मैंने पूछा—"महात्मा जी, आपने हाल ही मे जो परिचय-पत्र प्रचलित किया है, जिसमे आपने देश को असहयोग करने तथा खादी पहनने का आदेश दिया है, वह आपत्काल के लिये है अथवा सम्पत्काल के लिये ?" उन्होंने उत्तर दिया—"आपत्काल के लिये।" मैंने कहा—"अब मुझे अधिक कुछ नही पूछना है।" मैं नमस्कार करके लौटा। उसी दिन सायंकाल के समय मैंने महात्माजी को कांग्रेस महासमिति की बैठक में देखा। मै कॉंग्रेस महासमिति का सदस्य नही था, इसलिये मै तम्बू की कानवास की दीवार के एक छिद्र मे जमाव देख रहा था। इसी बीच किसी ने मुझे देख लिया और भीतर आने का संकेत किया। सभवतः वह व्यक्ति श्रीमोतीलाल नेहरू थे या श्रीगोकर्ण-नाथ मिश्र (लखनऊ बार के नेता, तदुपरान्त अवध चीफ कोर्ट के जज)। मैं भीतर जाकर एक कोने में बैठ गया। उस समय मैंने महात्माजी को बैठे हुए सदस्यों की पहली पंक्ति के पीछे खड़े देखा। वे उस समय की पक्की काठियावाड़ी वेश-भूषा में थे; चूड़ीदार पायजामा और घुटनों तक लटकने

वाला बिना बटन का अँगरखा पहने थे तथा एक लम्बी खादी की पगड़ी रस्सी-सी लपेटे हुए थे। उसी समय बहुमूल्य वस्त्र पहने दो ताल्लुकदार भीतर आए और गाँधीजी से भिड़ते-भिड़ते बचे। एक ने कहा—"यह कौन देहाती यहाँ आ गया है?" दूसरा उनके कान में फुसफुसाया—"अरे, महात्मा गाँधी।" पहले की आँखें निकल आईं और वह फैल गया! दोनों तत्क्षण ही चुपचाप एक कोने की ओर खिसक गए। बैठक में मेरी प्रिय माता श्रीमती एनीबेसेंट भी उपस्थित थी। घटनाक्रम इतनी द्रुतगति से चलता है कि नयी पीढ़ी यह विस्मृत कर देती है कि महात्मा गाँधी ने नहीं, बल्कि श्रीमती एनी-बेसेंट ने हिन्द के लिये सविनय अवज्ञा और असहयोग आन्दोलन की बात सोची थी। उन्होंने यहाँ स्वराज्य (होमरूल) आन्दोलन आरम्भ किया था और इसी के फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने उनको नजरबन्द कर दिया था।

दूसरी बार मैंने बम्बई मे जून सन् १९२१ ई० मे कॉंग्रेस महासमिति की बैठक मे महात्मा गाँधी के दर्शन किए। मै इस बार काग्रेस महासमिति का सदस्य था। लोकमान्य तिलक का स्वर्गवास हो चुका था। सरदार-गृह मे मुझे उनकी पूर्ण पुरुषाकार-मूर्ति देखने को मिली; यही मै शिवप्रसादजी के साथ ठहरा हुआ था। संभवत मैंने इसी बैठक में पहले-पहल अली-बन्धुओं को देखा था। बैठक की समाप्ति पर ६ फुट २ इच लम्बे शौकतअली ने जलपान के समय कहा—"आप लोग ये बढ़िया चीजें खूब खाइए, क्योंकि कुछ सालो तक हमलोगों को ऐसा मौका फिर नही मिलेगा।" निकट भविष्य में कराची के कारागार में दण्ड भोगने की ओर उनका संकेत था।

दूसरे पहर चौपाटी के मैदान मे विशाल जनसमुदाय एकत्र हुआ। देश-बन्धु चित्तरजनदास, मोतीलाल नेहरू, एम० आर० जयकर तथा अन्य नेताओं ने संक्षेप में पन्द्रह-पन्द्रह मिनटो तक भाषण किए। महात्माजी भी भाषण करनेवालों मे थे। उनका भाषण बहुत ही संक्षिप्त होता था, वे केवल तथ्य की बात कहत थ व अनावश्यक शब्द अथवा ध्वनि-वैचित्र्य का आश्रय नही

ग्रहण करते थे। जितना उद्देश्य-सिद्धि के लिये पर्याप्त होता था, उतने ही से काम चलाते थे। विदेशी वस्त्रों के जलाने का निर्णय किया गया, जो ठीक ही था। परन्तु देश की मिलों का बना कपड़ा भी जलाने का निर्णय किया गया जो अनुचित था। दूसरे दिन मिल के पास कपड़े जलाए गए। परन्तु जो भारतीय वस्त्र होली मे जलाने के लिये लाए गए, वे नाममात्र को थे और उनके पीछे भी वास्तविकता नही थी। दूसरे दिन मै महात्मा गाँधी से एक भव्य मकान की तीसरी मंजिल में मिला। उस समय कॉग्रेस महासमिति के बहुत से सदस्य भी उपस्थित थे। मैंने गाँधीजी से पूछा—"महात्माजी, औपनिवेशिक आधार पर स्वराज्य का तो कुछ अर्थ निकलता है, परन्तु केवल 'स्वराज्य' शब्द का कुछ अर्थ नही और यदि इसका अर्थ है भी तो प्रत्येक व्यक्ति की रुचि के अनुसार ही है। हिन्दू इसका अर्थ हिन्दू-राज्य, मुसलमान मुस्लिम-राज्य, जमींदार जमीदार-राज्य, पूँजीपति पूँजीपति-राज्य, मजदूर मजदूर-राज्य समझता है। और लोग भी इसी तरह सोचते हैं। इसका अर्थ यही होता है कि भयानक वर्ग-सघर्ष और गृह-युद्ध। इसका अर्थ एकता नही, जिसका आप उपदेश देते हैं।" उन्होने कहा—"यदि कोई स्वराज्य का अर्थ पूछे तो उसे बताइए कि इसका अर्थ रामराज्य है।" मैंने कहा—'इसका अर्थ होगा सरल माध्यम से समझना। दूसरे, यदि आप यह समझते है कि रामराज्य मे सभी आह्लादित थे, कोई निर्धन नही था तो यह बहुत बड़ी भूल होगी।" मैंने वाल्मीकि रामायण के कुछ उदाहरण दिए। तदनन्तर वे दूसरे सदस्यो की ओर आकृष्ट हो गए और मै लौट आया।

तदुपरान्त गाँधीजी के दर्शन नवम्बर १९२८ में हुए। गाँधीजी, कस्तूरबा, महादेव देसाई, मीरा बेन तथा उनकी मडली के अन्य सदस्य मेरे और मेरे ज्येष्ठ पुत्र के अतिथि के रूप में हमारे पुराने मकान सेवाश्रम मे ठहरे। उस समय मै बनारस म्युनिसिपल बोर्ड के दीर्घकालीन अध्यक्षता-पद के कार्य से थककर अपने शेष दिन शान्ति के साथ बिताने के उद्देश्य से चुनार चला गया था।

परन्तु दुर्भाग्यवश आशा पूरी नही हो सकी । गाँधीजी अपना संयमित भोजन अलग और निश्चित समय पर करते थे । परन्तु कस्तूरबा तथा अन्य व्यक्ति, जो निषिद्ध पेय——काफी अथवा चाय का प्रयोग नहीं कर सकते थे, दूसरे कमरे मे भोजन करते और उन पेयों का आनन्द लेते थे । मेरे निमन्त्रण पर वे चुनार आए । वहाँ प्रमुख नागरिकों ने उनको एक हजार रुपये की थैली भेट की । हमलोग केवल सात सौ रुपये जमा कर पाए । श्रीप्रकाश ने वहाँ भोंपू (ध्वनि-विस्तारक यन्त्र) का काम किया और जगन्नाथ-रथयात्रा के रथ मे मञ्च का काम लिया गया । आस-पास के ग्रामीण भी एकत्र हो गए थे । श्रीप्रकाश महात्माजी के संक्षिप्त भाषण का एक-एक वाक्य दुहराते गए । भीड इतनी थी कि हमलोग कठिनता से मिर्जापुर के लिए गाड़ी पकड़ पाए। मैंने महात्माजी के दूध के लिये एक लाल बकरी की व्यवस्था कर दी थी । बकरी के दूध का रहस्य श्री सी० एफ० एँड्रू ने हमसे सेवाश्रम मे बताया था । कुछ महीने पहले वे सेवाश्रम में हमारे अतिथि के रूप में ठहरे थे । जब गाँधीजी दक्षिण अफ्रीका मे थे तब उन्होंने कलकत्ते के ग्वालों द्वारा गायों के साथ 'फूका' का प्रयोग सुनकर यह प्रतिज्ञा की थी कि भविष्य मे वे दूध नही पियेगे । परन्तु उस समय उनका स्वास्थ्य अच्छा न था और वे पर्याप्त दुर्बल थे, क्योंकि बोअर युद्ध में ब्रिटिश सेना के लिये उन्हे बहुत काम करना पड़ा था । उन्होंने रेडक्रास संघटित किया और स्ट्रेचरों पर मुर्दों तथा घायल सिपाहियों को रण-भूमि से लाने की व्यवस्था की । वे स्वयं शत्रु की गोलियों की बौछार की उपेक्षा करके घायलों को लाने मे सहायता करने के लिये युद्धस्थल जाते थे । डाक्टरों ने कहा कि यदि उन्होने दूध नही पिया तो वे मर जायँगे । गाँधीजी ने सोचा और निश्चित किया, जिससे डाक्टर सन्तुष्ट हो गए ।

सन् १९३० ई० मे जब गाँधीजी जेल मे थे तो उन्होंने मुझे बुलाकर कई दिन लगातार हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश के सम्बन्ध में सलाह ली । उनमे और पंडितो के बीच इस पर विवाद हो रहा था ।

इसी वर्ष मुझे गाँधीजी से मिलने का एक अवसर और मिला; जब सरदार पटेल की पुत्री मणिबेन अस्वस्थ हुईं। गाँधीजी सरदार पटेल के साथ हँसी कर बैठे कि तुम्हारी नाक कट गई। उस समय सरदार पटेल ने अपनी नाक का एक साधारण आपरेशन कराया था।

इसके अनन्तर मैंने गाँधीजी के दर्शन १९३४ में किए। बनारस तथा अन्य स्थानों के भयानक दंगे अभी समाप्त ही हुए थे। गाँधी-इर्विन समझौते की भी घोषणा हो चुकी थी। गाँधीजी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया था और अब कॉंग्रेस महासमिति की बैठक बुलाई गई थी। सब सदस्य काशी विद्यापीठ में ठहराए गए। केवल मौलाना अबुलकलाम आजाद होटल में ठहरे। अलीबन्धु कॉंग्रेस से अलग होकर मुस्लिम लीग में सम्मिलित हो गए थे। मैंने सरदार वल्लभभाई पटेल को यहाँ दूसरी बार देखा। प्रथम बार सन् १९२१ में लखनऊ में कॉंग्रेस महासमिति की बैठक में देखा था। सरदार मन्त्री होने की अपेक्षा प्रधान सेनापति होने के अधिक उपयुक्त हैं। गाँधीजी के पक्के भक्त होने पर भी 'अहिंसा' पर उनका सदैव गाँधीजी से मतभेद रहता था। मौलाना अबुल कलाम स्पष्ट रूप से अपना मतभेद प्रकट करते थे। शेष अन्य कॉंग्रेस-सदस्य व्यक्तिगत मतभेद रखते थे। वे तिलकजी के सिद्धान्त पर विश्वास करते थे, जिसका प्रतिपादन सभी दंडविधानों में है और जो यहूदी पैगम्बर मोजेज, मुस्लिम पैगम्बर मुहम्मद और हिन्दू अवतारों में राम और कृष्ण के वचनों और कार्यों में पाया जाता है। रक्षा के लिये जो हिंसा की जाय वह हिंसा नहीं, दंड है। हिंसा और दंड में आकाश-पाताल का अन्तर है। इसके अनन्तर कॉंग्रेस के अधिवेशन से पहले गाँधीजी ने इस तथा अन्य ऐसे ही कारणों से त्यागपत्र दे दिया। फिर भी यदि मानव-प्रकृति के इस प्राचीन सिद्धान्त का अनुसरण हिन्दू समाज न करता, तो इसे और हिन्दू धर्म को मुस्लिम लीग निगल गई होती। इसको स्वार्थी, पुराणपंथी अन्धे पंडितों ने भी स्वीकार किया है'

काशी विद्यापीठ मे काँग्रेस महासमिति की बैठक हुई। उस साल आम की उपज असाधारण रूप से अच्छी थी। महात्माजी सत्य के साथ एक प्रयोग कर रहे थे। यहाँ सत्य भोजन था और साधारणत: प्रयोग विफल रहा। आयुर्वेद का कहना है कि यदि आम के शुद्ध मीठे रस का सेवन ४० दिन तक बराबर किया जाय तो कायाकल्प हो जाता है। परन्तु कुछ ऐसी गड़बडी हुई कि गाँधीजी को रात मे अजीर्ण हो गया। मैंने बनारस के सबसे पुराने डाक्टरों को बुलाया, वे सब सेवा की भावना से बिना फीस आए। उन्होंने बडी श्रद्धा से गाँधीजी की परीक्षा की और निर्णय किया कि उनमें कोई खराबी नही है। उनके तपस्वी जीवन ने बीमारी पर विजय पा ली थी। डाक्टरों के सामने मैंने कह डाला—"महात्माजी कुपथ्य करते है।" यह स्वाभाविक था कि वे मेरे इस कथन का अर्थ दूसरा निकालते। उन्होंने कहा —"आप ऐसा करते है।" मैंने स्पष्ट करते हुए कहा—"साधारण कुपथ्य नही, आप आधी-आधी रात तक लोगो से वार्तालाप करते रहते है और फिर दो घंटे पश्चात् अपने सोते हुए सेक्रेटरियों को जगाकर असख्य पत्र लिखा कर उन्हे व्याकुल कर देते है। मेरी समझ मे यही कुपथ्य है।" उनके क्षुब्ध मुखमंडल पर हास्य की रेखा खेल गई और सब प्रसन्न दिखाई देने लगे।

उसी सन्ध्या को लगभग ९ बजे रात्रि मे मैने प्रमुख सोशलिस्टों और कम्यूनिस्टो के एक शिष्टमंडल का उनसे वार्तालाप कराया। इसमें उस समय के काशी विद्यापीठ के अध्यापक आचार्य नरेन्द्रदेव, श्रीसम्पूर्णानन्द इत्यादि थे। मैने महात्माजी से कहा—"इन नवयुवकों में कुछ आपके सबसे अच्छे कार्यकर्ता हैं। काशी विद्यापीठ के इनके विद्यार्थी सभी प्रान्तों में गए है और वहाँ उन्होंने बहुत अच्छा कार्य किया है। उन्होंने हिन्दुस्तानी के प्रचार द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता, अस्पृश्योद्धार और खादी का प्रचार किया है। वे धरना देने जेल जाने पुलिस की लाठी खाने मे सबसे पहले रहे है और इस प्रकार

उन्होंने मातृभूमि को स्वराज्य की ओर ले जाने में बडा सहयोग दिया है। आप उनको अवसर दीजिए जिससे वे कांग्रेस नेताओं और सोशलिस्टों-कम्युनिस्टो के बीच उत्पन्न गम्भीर मिथ्या-भ्रम को सामने ला सके। दोनों पक्षों के बीच बहुत कम मतभेद है, परन्तु है महत्त्वपूर्ण। स्टालिन के शब्दों में 'जितना काम उतना पारिश्रमिक' सोशलिज्म है और 'जितनी आवश्यकता उतना पारिश्रमिक' कम्युनिज्म है। गाँधीजी और शिष्टमंडल में एक घंटे से अधिक शान्त वातावरण मे बातचीत हुई। मैं चुपचाप बैठा रहा। मैं समझता हूँ कि कॉग्रेस की ओर मेरा मिथ्या-भ्रम दूर हो गया, परन्तु दुर्भाग्यवश वह फिर उत्पन्न हो गया था। स्वातन्त्र्य-संग्राम के वीर सैनिक नरीमैन भी बैठक में आए थे, वे भी कॉग्रेस महासमिति के सदस्य थे। उनको निकालने मे कांग्रेस ने भूल की थी। वह सेवाश्रम मे ही ठहरे थे, क्योंकि अजीर्ण के कारण उनको विशेष भोजन की आवश्यकता थी। रामगढ़ कॉग्रेस के पहले इस अवसर पर असाधारण वीर सुभाषचन्द्र बोस को भी सेवाश्रम में एक दिन के लिये अतिथि के रूप मे पाकर हमने (इस समय मैं अनुभव करता हूँ) अपने को बहुत सम्मानित अनुभव किया था।

दूसरी बार मैने गॉधीजी को आजाद, खान अब्दुल गफ्फार खॉ (प्रथम बार) तथा उनकी पुत्री सूफिया, सरदार पटेल, डा० विधानचन्द्र राय (प्रथम-बार), सुश्री उमा नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू तथा अन्यान्य नेताओं के साथ १९३६ में देखा। इस अवसर पर महात्मा गाँधी व्यावहारिक रूप से भारतमाता-मन्दिर का उद्घाटन करने आए थे।

विश्ववन्द्य बापू की आत्मकथा

गाँधी-परिवार कहते है, पहले पसारी का काम करता था । परन्तु मेरे दादा से लेकर तीन पुश्त तक उसने दीवानगिरी की है । जान पड़ता है, उत्तमचन्द गाँधी, उर्फ ओता गाँधी, बड़े टेकवाले थे । उन्हें राज-दरबारी साजिशों के कारण, पोरबन्दर छोड़कर जूनागढ़ राज्य में जाकर रहना पड़ा था । वहाँ गए तो उन्होंने बायें हाथ से नवाब साहब को सलाम किया । जब किसी ने इस स्पष्ट गुस्ताखी का कारण पूछा, तो उत्तर मिला—'दाहिना हाथ तो पोरबन्दर के सुपुर्द हो चुका है ।'

ओता गाँधी ने एक-एक करके अपने दो विवाह किए थे । पहली पत्नी से चार लडके हुए थे और दूसरी से दो । लेकिन अपना बचपन याद करते हुए मुझे यह खयाल तक नहीं आता कि ये भाई सौतेले लगते थे । उनमे पाँचवे करमचन्द गाँधी उर्फ कबा गाँधी और अंतिम तुलसीदास गाँधी थे । दोनो भाई बारी-बारी से पोरबन्दर मे दीवान रहे थे । कबा गाँधी मेरे पिताजी थे । पोरबन्दर की दीवानगिरी छोड़ने के बाद वह 'राजस्थानिक कोर्ट' के सभासद रहे थे । इसके पश्चात् राजकोट मे और फिर कुछ समय बीकानेर मे दीवान रहे । मृत्यु के समय राजकोट दरबार के पेशनर थे ।

कबा गाँधी के भी एक-एक करके चार विवाह हुए थे । पहली दो पत्नियो से दो लड़कियाँ थीं, अन्तिम पुतलीबाई से एक कन्या और तीन पुत्र हुए, जिनमे सबसे छोटा मै हूँ ।

पिताजी ने शिक्षा केवल अनुभव द्वारा प्राप्त की थी । आज की अपर प्राइमरी के बराबर उनकी पढ़ाई हुई थी । इतिहास, भूगोल बिलकुल नही पढ़ थे फिर भी व्यावहारिक ज्ञान इतना ऊँचा था तकि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म

प्रश्नों को हल करने मे अथवा हजार आदमियों से काम लेने में उन्हें कठिनाई न होती थी। धार्मिक शिक्षा नही के बराबर हुई थी। परन्तु मन्दिरो मे जाने से, कथा-पुराण सुनने से जो धर्मज्ञान असंख्य हिन्दुओं को सहज ही मिलता रहता है, वह उन्हें था। अपने अन्तिम दिनों मे एक विद्वान् ब्राह्मण की सलाह से जो कि हमारे कुटुम्ब के मित्र थे, उन्होने गीता-पाठ शुरू किया था, और नित्य कुछ श्लोक पूजा के समय ऊँचे स्वर से पाठ किया करते थे।

माताजी साध्वी स्त्री थी, ऐसी छाप मेरे दिल पर पड़ी है। वह बहुत भावुक थी। पूजा-पाठ किए बिना कभी भोजन न करती, हमेशा हवेली—वैष्णव-मन्दिर—जाया करतीं। जब से मैंने होश सँभाला, मुझे याद नही पड़ता कि उन्होंने कभी चातुर्मास छोडा हो। कठिन-से-कठिन व्रत वह किया करतीं और उन्हें निर्विघ्न पूरा करतीं। बीमार पड जाने पर भी वह व्रत न छोड़तीं। ऐसा एक समय मुझे याद है, जब उन्होंने चान्द्रायण व्रत किया था। बीच में बीमार पड़ गईं, पर व्रत न छोड़ा। चातुर्मास में एक बार भोजन करना तो उनके लिये मामूली बात थी। इतने से संतोष न मानकर एक बार चातुर्मास में उन्होंने हर तीसरे दिन उपवास किया। एक साथ दो-तीन उपवास तो उनके लिये एक मामूली बात थी। एक चातुर्मास मे उन्होंने ऐसा व्रत लिया कि सूर्यनारायण के दर्शन होने पर ही भोजन किया जाय। इस चौमासे मे हम लड़के लोग आसमान की तरफ देखा करते कि कब सूरज दिखाई पड़े और कब माँ खाना खाय। सब लोग जानते हैं कि चौमासे में बहुत बार सूर्य-दर्शन मुश्किल से होते हैं। मुझे ऐसे दिन याद हैं जबकि हमने सूर्य को निकला हुआ देखकर पुकारा है—'माँ, माँ, वह सूरज निकला' और जब तक माँ जल्दी-जल्दी दौड़कर आती है, सूरज छिप जाता था। माँ यह कहती हुई वापस जाती कि 'खैर, कोई बात नहीं, ईश्वर नही चाहता कि आज खाना मिले' और अपने कामो में मशगूल हो जाती।

माताजी व्यवहार-कुशल थीं। राजदरबार की सब बातें जानती थी। रनिवास में उनकी बुद्धिमत्ता ठीक-ठीक आँकी जाती थी। जब मैं बच्चा था, मुझे दरबारगढ में कभी-कभी वह साथ ले जाती थी और 'बामा—साहब' (ठाकुर साहब की विधवा माता) के साथ उनके कितने ही संवाद मुझे अब भी याद हैं।

इन माता-पिता के यहाँ आश्विन बदी १२ संवत् १९२५ अर्थात् २ अक्टूबर १८६९ ई० को पोरबन्दर अथवा सुदामापुरी में मेरा जन्म हुआ।

बाल्यावस्था

पोरबन्दर मे पिताजी 'राजस्थानिक कोर्ट' के सभ्य होकर जब राजकोट गए तब मेरी उम्र कोई सात साल की होगी। राजकोट की देहाती पाठशाला मे मैं भरती कराया गया। इस पाठशाला के दिन मुझे अच्छी तरह याद हैं। मास्टरो के नाम-ठाम भी याद है। वहाँ की पढाई के सम्बन्ध में कोई खास बात जानने लायक नहीं। मामूली विद्यार्थी भी मुश्किल से माना जाता होऊँगा। पाठशाला से फिर ऊपर के स्कूल मे—और वहाँ से हाई स्कूल मे गया। यहाँ तक पहुँचते हुए मेरा बारहवाँ साल पूरा हो गया। मुझे न तो यही याद है कि अबतक मैंने किसी भी शिक्षक से झूठ बोला हो, न यही कि किसी से मित्रता जोड़ी हो। बात यह थी कि मैं बहुत झेंपू लड़का था, मदरसे मे अपने काम से काम रखता। घंटी लगते समय पहुँच जाता, फिर स्कूल बन्द होते ही घर भाग आता। 'भाग आता' शब्द का प्रयोग मैंने जान-बूझकर किया है, क्योकि मुझे किसी के साथ बातें करना न सुहाता था—मुझे यह डर भी बना रहता कि 'कहीं कोई मेरी दिलग्गी न उड़ाए ?'

हाई स्कूल के पहले ही साल की परीक्षा के समय की एक घटना लिखने योग्य है। शिक्षा-विभाग के इंस्पेक्टर, 'जाइल्स साहब' निरीक्षण करने आए। उन्होने पहली कक्षा के विद्यार्थियो को पाँच शब्द लिखवाए। उनमें एक शब्द

था 'केटल' (kettle)। उसे मैंने गलत लिखा। मास्टर साहब ने मुझे अपने बूट से टल्ला लेकर चेताया। पर मै क्यों चेतने लगा? मेरे दिमाग मे यह बात न आई कि मास्टर साहब मुझे आगे की स्लेट देखकर सही लिखने का इशारा कर रहे है। मै यह मान रहा था कि मास्टर साहब यह देख रहे है कि हम दूसरे से नकल तो नहीं कर रहे है। सब लडकों के पाँचो शब्द सही निकले, एक मै ही बुद्धू साबित हुआ। मास्टर साहब ने बाद में मेरी यह 'मूर्खता' मुझे समझाई, परन्तु उसका मेरे दिल पर कोई असर न हुआ। दूसरों की नकल करना मुझे कभी न आया।

ऐसा होते हुए भी मास्टर साहब का अदब रखने मे मैंने कभी गलती न की। बड़े-बूढ़ो के ऐब न देखने का गुण मेरे स्वभाव मे ही था। बाद को तो इन मास्टर साहब के दूसरे ऐब भी मेरी नजर में आए। फिर भी उनके प्रति मेरा आदर-भाव कायम ही रहा। मै इतना जान गया था कि हमें बड़े-बूढो की आज्ञा माननी चाहिए, जैसा वे कहे, करना चाहिए; पर वे जो कुछ करे, उसके काजी हम न बनें।

इसी समय और दो घटनाएँ हुई, जो मुझे याद नही है। मामूली तौर पर मुझे कोर्स की पुस्तकों के अलावा कुछ भी पढने का शौक न था। इस ख्याल से कि अपना पाठ याद रखना उचित है, नही तो उलाहना सहना होगा और मास्टर साहब से झूठ बोलना ठीक नही, मैं पाठ याद करता; पर मन न लगा करता। इससे सबक कई बार कच्चा रह जाता। तो फिर दूसरी पुस्तके पढने की तो बात ही क्या? परन्तु पिताजी एक 'श्रवण-पितृभक्ति' नामक नाटक खरीद लाए थे, उसपर मेरी नजर पड़ी। उसे पढ़ने का दिल चाहा। बडे चाव से मैंने उसे पढा। इन्ही दिनों शीशे में तसवीर दिखानेवाले लोग भी आया करते। उनमें मैने यह चित्र भी देखा कि श्रवण अपने माता-पिता को काँवर मे बैठाकर तीर्थयात्रा के लिये जा रहा है। ये दोनों चीजें मेरे अन्तस्थल पर अंकित हो गई। मेरे मन में यह बात उठा करती कि मै भी

श्रवण की तरह बनूँ। श्रवण जब मरने लगा तो उस समय उसके माता-पिता का विलाप अब भी याद है। उस ललित छंद को मैं बाजे पर भी बजाया करता। बाजा सीखने का मुझे शौक था और पिताजी ने एक बाजा खरीद भी दिया था।

इसी अरसे मे एक नाटक-कम्पनी आई और मुझे उसका नाटक देखने की छुट्टी मिली। हरिश्चन्द्र का खेल था। इसको देखने मे मैं अघाता न था, बार-बार उसे देखने को मन हुआ करता। पर यों बार-बार जाने कौन देने लगा? लेकिन अपने मन मे मैंने इस नाटक को सैकडों बार खेला होगा। हरिश्चन्द्र के सपने आते। यही धुन समाई कि 'हरिश्चन्द्र की तरह सत्यवादी सब क्यों न हों?' यही धारणा जमी कि हरिश्चन्द्र-जैसी विपत्तियाँ भोगना, पर सत्य न छोडना ही सच्चा सत्य है। मैंने यही मान लिया था कि नाटक मे जैसी विपत्तियाँ हरिश्चन्द्र पर पड़ी हैं, वैसी ही वास्तव मे उसपर पड़ी होगी। हरिश्चन्द्र के दुखो को देखकर, उन्हें याद कर-कर मैं खूब रोया हूँ। आज मेरी बुद्धि कहती है कि सभव है, हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न हो। पर मेरे हृदय में तो हरिश्चन्द्र और श्रवण आज भी जीवित हैं। आज भी यदि मै उन नाटकों को पढ़ पाऊँ तो आँसू आए बिना न रहें।

हाई स्कूल में

हाई स्कूल में मैं बुद्धू नही माना जाता था। शिक्षकों का प्रेम हमेशा सम्पादन करता रहा। हर साल माँ-बाप को विद्यार्थी की पढ़ाई तथा चाल-चलन के सम्बन्ध में स्कूल से प्रमाण-पत्र भेजे जाते। उनमें किसी बार मेरी पढाई या चाल-चलन की शिकायत नही की गई। दूसरे दर्जे के बाद तो इनाम भी पाए और पाँचवे तथा छठे दर्जे मे तो क्रमश: ४) और १०) मासिक की छात्रवृत्तियाँ भी मिली थीं। छात्रवृत्ति मिलने में मेरी योग्यता की अपेक्षा तकदीर ने ज्यादा मदद की छात्रवृत्तियाँ सब लड़कों के लिये नहीं

थी, सिर्फ सोरठ प्रान्त के विद्यार्थियों के लिये ही थी और उस समय चालीस-पचास विद्यार्थियों की कक्षा मे सोरठ प्रान्त के विद्यार्थी बहुत नही हो सकते थे।

अपनी तरफ से तो मुझे याद पड़ता है कि मै अपने को बहुत योग्य नही समझता था। इनाम अथवा छात्रवृत्ति मिलती तो मुझे आश्चर्य होता: परन्तु हाँ, अपने आचरण का मुझे बड़ा खयाल रहता था। सदाचार में यदि चूक होती तो मुझे रोना आ जाता। यदि मुझ से कोई ऐसा काम बन पड़ता कि जिसके लिये शिक्षक को उलाहना देना पडे, अथवा उनका ऐसा खयाल भी हो जाय तो यह मेरे लिये असह्य हो जाता। मुझे याद है कि एक बार मै पिटा भी था। मुझे इस बात पर तो दु:ख न हुआ कि पिटा, परन्तु इस बात का महा-दु:ख हुआ कि मैं दण्ड का पात्र समझा गया। मैं फूट-फूटकर रोया। यह घटना पहली अथवा दूसरी कक्षा की है। दूसरी घटना सातवे दरजे की है। उस समय दोराबजी एदलजी गीमी हेडमास्टर थे। वह विद्यार्थी-प्रिय थे; क्योंकि वह सबसे नियमों का पालन करवाते, विधि-पूर्वक काम करते और काम लेते तथा पढाई अच्छी करते। उन्होंने ऊँचे दरजे के विद्यार्थियों के लिये कसरत-क्रिकेट अनिवार्य कर दिया था। लेकिन मुझे उनसे अरुचि थी। अनिवार्य होने के पहले तो मै कसरत, क्रिकेट या फुटबाल में कभी न जाता था। न जाने, मेरा झेंपूपन भी एक कारण था। परन्तु अब मै देखता हूँ कि कसरत की वह अरुचि मेरी भूल थी। उस समय मेरे ऐसे गलत विचार थे कि कसरत का शिक्षा के साथ कोई सम्बन्ध नही। पीछे जाकर मैंने समझा कि व्यायाम अर्थात् शारीरिक शिक्षा के लिये भी विद्याध्ययन में उतना ही स्थान होना चाहिए जितना मानसिक शिक्षा को है।

फिर भी मुझे कहना चाहिए कि कसरत मे न जाने से मुझे कोई नुकसान न हुआ। इसका कारण है। पुस्तकों में मैंने पढ़ा था कि खुली हवा मे घूमना अच्छा होता है। यह मुझे पसन्द आया और तभी से—हाई स्कूल के दिनसेए़ी—घूमने जाने की आदत मुझे पड गई थी जो अबतक है। घूमना भी क

प्रकार का व्यायाम ही है और इस कारण मेरा शरीर थोड़ा-बहुत गठीला हो गया।

अरुचि का दूसरा कारण था, पिताजी की सेवा-शुश्रूषा करने की तीव्र इच्छा। स्कूल बन्द होते ही तुरत घर पहुँचकर उनकी सेवा मे जुट जाता। लेकिन जब कसरत अनिवार्य कर दी गई, तब इस सेवा मे विघ्न आने लगा। मैने गीमी साहब से अनुरोध किया कि पिताजी की सेवा करने के लिये मुझे कसरत से माफी मिलनी चाहिए, परन्तु वे क्यों माफी देने लगे? एक शनिवार को सुबह का स्कूल था। शाम को चार बजे कसरत मे जाना था। मेरे पास घड़ी न थी। आकाश मे बादल छा रहे थे, इस कारण समय का पता न चला। बादलों से मुझे धोखा हुआ। जबतक कसरत के लिये पहुँचता हूँ, तबतक तो सब लोग चले गए थे। दूसरे दिन गीमी साहब ने हाजरी देखी तो मुझे गैरहाजिर पाया। मुझसे कारण पूछा। कारण तो जो था, सो ही मैने बताया। उन्होंने उसे सच न माना और मुझ पर एक या दो आना जुर्माना हो गया। मुझे इस बात से अत्यन्त दु:ख हुआ कि मै झूठा समझा गया। मै यह कैसे साबित करता कि मैंने झूठ नही बोला। पर कोई उपाय न था। मन मसोसकर रह जाना पड़ा। मैं रोया और समझा कि सच बोलनेवाले और सच करनेवाले को गाफिल भी न रहना चाहिए। अपनी पढ़ाई के दरमियान मुझसे ऐसी गफलत वह पहली और आखिरी थी। मुझे कुछ-कुछ स्मरण है कि अन्त में मै वह जुर्माना माफ करा पाया था।

अन्त मे कसरत से छुट्टी मिल ही गई। पिताजी की चिट्ठी जब हेड-मास्टर को मिली कि मै अपनी सेवा-शुश्रूषा के लिये स्कूल के बाद इसे अपने पास चाहता हूँ, तब उससे छुटकारा मिल गया।

व्यायाम की जगह मैंने घूमना जारी रक्खा। इस कारण शरीर से मेहनत न लेने की भूल के लिये शायद मुझे सजा न भोगनी पड़ी हो, परन्तु एक दूसरी भूल की सजा म पा रहा हूँ पढाई में खुशखत होन का

जरूरत नही, यह गलत खयाल मेरे मन में जाने कहाँ से आ घुसा था, जो ठेठ विलायत जाने तक रहा। फिर, और खासकर दक्षिण अफ्रीका मे, जहाँ वकीलों के और दक्षिण अफ्रीका मे जन्मे और पढ़े नवयुवकों के मोती की तरह अक्षर देखे, तब तो बहुत लजाया और पछताया। मैंने देखा कि बेडौल अक्षर होना अधूरी शिक्षा की निशानी है। अतः मैंने पीछे से अपना खत सुधारने की कोशिश भी की, परन्तु, पक्के घड़े पर कहीं मिट्टी चढ सकती है? जवानी मे जिस बात की अवहेलना मैंने की उसे मै फिर आजतक न सुधार सका। अतः हरेक नवयुवक और युवती मेरे इस उदाहरण को देखकर चेते और समझे कि सुलेख शिक्षा का एक आवश्यक अंग है। सुलेख के लिये चित्र-कला आवश्यक है। मेरी तो यह राय बनी है कि बालकोंको आलेखन-कला पहले सिखानी चाहिए।

इस समय के मेरे विद्यार्थी-जीवन की दो बाते लिखने जैसी हैं। मैं छः महीने तीसरे दरजे में रहा और गर्मियों की छुट्टी के पहलेवाली परीक्षा के बाद, चौथे दरजे मे चढ़ा दिया गया। इस कक्षा में कुछ विषयों की शिक्षा अंग्रेजी मे दी जाती है, पर अंग्रेजी मै कुछ न समझ पाता। भूमिति-रेखागणित भी चौथे दरजे से शुरू होता है। एक तो मै उसमे कमजोर था, और फिर समझ मे भी कुछ न आता था। भूमिति-शिक्षक पढ़ाने में तो अच्छे थे, पर मेरी कुछ समझ ही में न आता था। इससे मै बहुत बार निराश हो जाता। कभी-कभी यह दिल में आता कि दो दरजों की पढ़ाई एक साल में करने से तो अच्छा है कि मै तीसरी कक्षा मे ही फिर चला जाऊँ। पर ऐसा करने से मेरी बात बिगड़ती और जिस शिक्षक ने मेरी मेहनत पर विश्वास रखकर दरजा चढाने की सिफारिश की थी, उनकी भी बात बिगड़ती। इस भय से नीचे उतरने का विचार तो बन्द ही रखना पड़ा। आखिर परिश्रम करते-करते जब 'युक्लिड' के तेरहवे प्रमेय तक पहुँचा, तब मुझे एकाएक लगा कि भूमिति तो सबसे सहज विषय है। जिस बात में केवल बुद्धि का सीधा और सरल उपयोग

ही करना है उसमें मुश्किल क्या है ? उसके बाद से भूमिति मेरे लिए बड़ा सहज और रोचक विषय हो गया ।

संस्कृत मुझे रेखागणित से भी अधिक मुश्किल मालूम पड़ी । रेखा-गणित में तो रटने की कोई बात न थी परन्तु संस्कृत में, मेरी समझ से रटना-ही-रटना था । यह विषय भी चौथी कक्षा से शुरु होता था । आखिर छठी कक्षा मे जाकर मेरा दिल बैठ गया । संस्कृत-शिक्षक बड़े सख्त आदमी थे । विद्यार्थियों को बहुतेरा पढ़ा देने का लोभ उन्हें रहा करता । संस्कृत-वर्ग और फारसी-वर्ग में एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा रहती । फारसी के मौलवी साहब नरम आदमी थे । विद्यार्थी लोग आपस मे बातें करते कि फारसी बड़ी सरल है, और मौलवी साहब भी भले आदमी है । विद्यार्थी जितना याद करता है, उतने ही पर वह निभा लेते हैं । सहज होने की बात से मैं भी लल-चाया और एक दिन फारसी के दरजे में जाकर बैठा । संस्कृत-शिक्षक को इससे बड़ा दु:ख हुआ । उन्होंने मुझे बुलाकर कहा—"यह तो सोचो कि तुम किसके लड़के हो ? अपने धर्म की भाषा तुम नहीं पढ़ना चाहते ? तुमको जो कठिनाई हो सो मुझे बताओ । मै तो सारे विद्यार्थियों को अच्छी संस्कृत पढ़ाना चाहता हूँ । आगे चलकर तो उसमे तुम्हें रस की घूँटें मिलेंगी । अत: तुमको इस तरह निराश न होना चाहिए । तुम फिर मेरी कक्षा में आकर बैठो ।"

मै बड़ा लज्जित हुआ । उन शिक्षक के इस प्रेम की अवहेलना न कर सका । आज मेरी अन्तरात्मा कृष्णशंकर मास्टर का उपकार मानती है, क्योंकि जितनी संस्कृत मैंने उस समय पढ़ी थी, यदि उतनी भी न पढ़ा होता तो आज मैं संस्कृत-शास्त्रों का जो आनन्द ले रहा हूँ, वह न ले पाता । बल्कि मुझे तो इस बात का पछतावा रहता है कि मैं अधिक संस्कृत न पढ़ सका; क्योंकि आगे चलकर मैंने समझा कि किसी भी हिन्दू-बालक को संस्कृत अच्छा अध्ययन किए बिना न रहना चाहिए ।

धर्म की झलक

छ -सात साल की उम्र से लेकर सोलह वर्ष तक विद्याध्ययन किया, परन्तु स्कूल मे कही धर्म-शिक्षा न मिली। जो चीज शिक्षक के पास से सहज ही मिलनी चाहिए, वह न मिली। फिर भी वायु-मण्डल मे से तो कुछ-न कुछ धर्म-प्रेरणा मिला ही करती। यहाँ धर्म का व्यापक अर्थ करना चाहिए। धर्म से मेरा अभिप्राय है आत्मभान से, आत्मज्ञान से।

वैष्णव-सम्प्रदाय मे जन्म होने के कारण बार-बार 'वैष्णव-मन्दिर' जाना होता था। परन्तु उसके प्रति श्रद्धा न उत्पन्न हुई। मन्दिर का वैभव मुझे पसन्द न आया। मन्दिरो मे होनेवाले अनाचारो की बाते सुन-सुनकर मेरा मन उसके सम्बन्ध मे उदासीन हो गया। यहाँ से मुझे कोई लाभ न मिला।

परन्तु जो चीज मुझे इस मन्दिर से न मिली, वह अपनी दाई के पास से मिल गई। वह हमारे कुटुम्ब मे एक पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद आता है। मै भूत-प्रेत आदि से डरा करता था। इस रभा ने मुझे बताया कि इसकी दवा 'राम-नाम' है। किन्तु राम-नाम की अपेक्षा रभा पर मेरी अधिक श्रद्धा थी। इसलिये बचपन मे मैने भूत-प्रेतादि से बचने के लिये राम-नाम का जप शुरू किया। यह सिलसिला यो बहुत दिन तक जारी न रहा, परन्तु जो बीजारोपण बचपन मे हुआ, वह व्यर्थ न गया। राम-नाम, जो आज मेरे लिये एक अमोघ शक्ति हो गया है, उसका कारण यह रभाबाई का बोया हुआ बीज ही है।

मेरे चचेरे भाई रामायण के भक्त थे। इसी अरसे मे उन्होने हम दो भाइयो को 'रामारक्षा' का पाठ सिखाने का प्रबन्ध किया। हमने उसे मुखाग्र करके प्रात काल स्नान के बाद पाठ करने का नियम बनाया। जबतक पोरबन्दर मे रहे, तबतक तो यह निभता रहा। परन्तु राजकोट के वातावरण मे उसमे शिथिलता आ गई। इस क्रिया पर भी कोई खास श्रद्धा न थी। मै दो

कारणो से 'राम-रक्षा' का पाठ करता था। एक तो मैं बडे भाई को आदर की दृष्टि से देखता था, दूसरे मुझे गर्व था कि मै 'राम-रक्षा' का पाठ शुद्ध उच्चारण-सहित करता हूँ।

परन्तु जिस चीज ने मेरे दिल पर गहरा असर डाला, थी रामायण का परायण। पिताजी की बीमारी का बहुतेरा समय पोरबन्दर मे गया। वहाँ वह रामजी के मन्दिर मे रोज रात को रामायण सुनते। कथा कहनेवाले थे रामचन्द्रजी के परम भक्त बीलेश्वर के लाधा महाराज। उनके सम्बन्ध मे यह आख्यायिका प्रसिद्ध थी कि उन्हे कोढ हो गया था। उन्होने कुछ दवा न की—सिर्फ बीलेश्वर महादेव पर चढे हुए बिल्वपत्रो को कोढवाले अगो पर बाँधते रहे और राम-नाम का जप करते रहे, अन्त मे उनका कोढ समूल नष्ट हो गया। यह बात चाहे सच हो या झूठ, हम लोगो ने तो सच ही मानी। हाँ, यह जरूर सच है कि लाधा महाराज ने जब कथा आरम्भ की थी, उनका शरीर बिलकुल नीरोग था। लाधा महाराज का स्वर मधुर था। वह दोहा-चौपाई गाते और अर्थ समझाते। खुद उसके रस मे लीन हो जाते और श्रोताओ को भी लीन कर देते। मेरी अवस्था इस समय कोई तेरह साल की होगी, पर मुझे याद है कि उनकी कथा मे मेरा बडा मन लगता था। रामायण पर जो मेरा अत्यन्त प्रेम है, उसका पाया यही रामायण-श्रवण है। आज भी मै तुलसी रामायण को भक्ति-मार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ।

कुछ महीने बाद हम राजकोट आए। वहाँ ऐसी कथा न होती थी। हाँ, एकादशी को भागवत अलबत्ता पढी जाती थी। कभी-कभी मै वहाँ जा बैठता, परन्तु कथा-साहित्य उसे रोचक न बना पाते थे। आज मै समझता हूँ कि भागवत ऐसा ग्रन्थ है कि इसे पढकर धर्मरस उत्पन्न किया जा सकता है। मैने उसका गुजराती अनुवाद बडे चाव-भाव से पढा है। परन्तु इक्कीस दिन के उपवास मे मैने जब भारत-भूषण पडित मदन मोहन मालवीय जी के श्रीमुख से मूल सस्कृत के कितने ही अश सुने तो मुझे ऐसा लगा कि

बचपन में यदि उनके सदृश भगवद्भक्त के मुँह से भागवत सुनी होती तो बचपन मे ही मेरी गाढ-प्रीति उस पर जम जाती । मै अच्छी तरह इस बात का अनुभव कर रहा हूँ कि बचपन मे पड़े शुभ-अशुभ संस्कार बड़े गहरे हो जाते है और इसीलिये यह बात अब मुझे बहुत खल रही है कि लड़कपन में कितने ही अच्छे ग्रन्थो का श्रवण-पठन न हो पाया ।

राजकोट में मुझे सब सम्प्रदायों के प्रति समान भाव रखने की शिक्षा अनायास मिली । हिन्दू-धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रति आदर-भाव रखना सीखा, क्योकि माता-पिता वैष्णव-मन्दिर मे जाते थे, शिवालय भी जाते व राम-मन्दिर भी जाते थे और हम भाइयों को भी ले जाते अथवा भेज देते थे ।

फिर पिता के पास एक-न-एक जैन-धर्माचार्य अवश्य आया करते । पिताजी भिक्षा देकर उनका आदर-सत्कार भी करते । वे पिताजी के साथ धर्म तथा व्यवहार-चर्चा किया करते । इसके सिवा पिताजी के मुसलमान तथा पारसी मित्र भी थे । वे अपने धर्म की बातें सुनाया करते और पिताजी बहुत बार आदर और अनुराग के साथ उनकी बातें सुनते । मै पिताजी का 'नर्स' था, इसलिये ऐसी चर्चा के समय मै भी प्राय: उपस्थित रहा करता । इस सारे वायुमण्डल का यह असर हुआ कि मेरे मन मे सब धर्मो के प्रति समान भाव पैदा हुआ ।

हाँ, ईसाई धर्म इसमे अपवाद था । उसके प्रति तो जरा अरुचि ही उत्पन्न हो गई । इसका कारण था । उस समय हाई स्कूल के एक कोने में एक ईसाई व्याख्यान दिया करते थे । वह हिन्दू-नेताओ और हिन्दू-धर्मवालों की निन्दा किया करते । यह मुझे सहन न होता । मै एकाध ही बार इन व्याख्यानो को सुनने के लिये खड़ा रहा होऊँगा, पर फिर वहाँ खड़ा होने का जी न चाहा । इसी समय सुना कि एक प्रसिद्ध हिन्दू ईसाई हो गए हैं । गाँव मे यह चर्चा फैली हुई थी कि उन्हें जब ईसाई बनाया गया तब गो-माँस खिलाया गया और

शराब पिलाई गई। उनका लिवास भी बदल दिया गया। और ईसाई होने के बाद वह सज्जन कोट-पतलून और हैट लगाने लगे। यह देखकर मुझे व्यथा पहुँची। "जिस धर्म मे जाने के लिये गो-माँस खाना पडता हो, शराब पीनी पड़ती हो और अपना पहनावा बदलना पड़ता हो, उसे क्या धर्म कहना चाहिए ?" मेरे मन मे यह विचार उत्पन्न हुआ। फिर तो यह भी सुना कि ईसाई हो जाने पर यह महाशय अपने पूर्वजों के धर्म की, रीतिरिवाज की और देश की भरपेट निन्दा करते फिरते हैं। इन सब बातों से मेरे मन में ईसाई-धर्म के प्रति अरुचि उत्पन्न हो गई।

इस प्रकार यद्यपि दूसरे धर्मों के प्रति सद्भाव उत्पन्न हुआ, तो भी यह नही कह सकते कि ईश्वर के प्रति मेरे मन में श्रद्धा थी। इस समय पिताजी के पुस्तक-संग्रह से मनुस्मृति का भाषान्तर मेरे हाथ पड़ा। उसमें सृष्टि की उत्पत्ति आदि का वर्णन पढ़ा। उसपर श्रद्धा न जमी। उल्टे कुछ नास्तिकता आ गई। अपने चचेरे भाई की बुद्धि पर मुझे विश्वास था। उनके सामने मैंने अपनी शकाएँ रक्खीं। परन्तु वह मेरा समाधान न कर सके। उन्होने उत्तर दिया—"बड़े होने पर इन प्रश्नों का उत्तर तुम्हारी बुद्धि अपने-आप देने लगेगी। ऐसे-ऐसे सवाल बच्चो को न पूछने चाहिए।" मैं चुप हो रहा, पर मन को शान्ति न मिली। मनुस्मृति के खाद्याखाद्य-प्रकरण मे तथा दूसरे प्रकरणों में भी प्रचलित प्रथा का विरोध दिखाई दिया। इस शंका का उत्तर भी मुझे प्रायः ऊपर लिखे अनुसार ही मिला। तब यह ही सोचकर मन को समझा लिया कि एक-न-एक दिन बुद्धि का विकास होगा, तब अधिक पठन और मनन करूंगा और तब सब कुछ समझ मे आने लगेगा।

सरदार वल्लभभाई पटेल

[सरदार वल्लभभाई पटेल भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में लौह पुरुष के रूप में विख्यात थे। भारत के स्वतन्त्र होते ही उन्होंने भारतीय रियासतों का राज्य में विलीनी करण कर रियासतों की जनता को अनेक कष्टों से बचाया। भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम में वह महात्मा गाँधी के दाहिने हाथ समझे जाते थे। उनके सम्बन्ध में केन्द्रीय लोकसभा के अध्यक्ष श्री जी० वी० मावलंकर ने जो संस्मरण लिखा है, उससे उनकी विशेषताओं का पूरा परिचय मिल जाता है आगे की पंक्तियों में उसे ही पढ़िए।]

मेरा ध्यान सन् १९१३ की ओर वापस जाता है। सरदार १३ फरवरी, १९१३ को जहाज़ से बम्बई उतरे और दूसरे दिन सबेरे अहमदाबाद आए। वे उस समय के चीफ़ जस्टिस सर बसिल स्काट से भलीभाँति परिचित थे और इसलिये स्वभावतः उनसे बम्बई में मिले। सर बसिल ने बड़ी आवभगत से उन्हें लिया और यदि वल्लभभाई रुक जायें, तो सभी तरह की सहायता देने का वचन दिया, जिसमें गवर्नमेंट लॉ स्कूल की अध्यापिका भी सम्मिलित थी। कालिज उस समय स्कूल कहलाता था, पर बम्बई-की कानूनी दुनिया की सर्वोच्च जगह के लिये वल्लभभाई के दिल में कोई आकर्षण और इच्छा नहीं थी, और उन्होंने अहमदाबाद आने को विशेषता दी। अपने आदमियों की सेवा करने की उनकी अपनी योजनाएँ थीं और भावी सार्वजनिक कार्यों के लिये उन्होंने अहमदाबाद को केन्द्र चुना। यह कैसा संयोग था कि दो वर्ष के पश्चात् गाँधीजी ने भी इसी स्थान को चुना। देश के सभी मित्र अहमदाबाद की जनता के अभिमान और देशभक्ति की सराहना अवश्य करेंगे, जब कि उनके हृदय यह सोच कर प्रफुल्लित है कि पिछले तीस सालों में उन्होंने— उनके शहर ने हिन्दुस्तान को, राष्ट्रीयता को मूर्तरूप देने और इसका नेतृत्व करने मे इतना महान योग दिया है

एक फुर्तीला नौजवान अच्छे कटे हुए सूट और फेल्ट हैट पहने था, प्रभावशाली और चमकीली आँखोंवाला यह व्यक्ति बहुत बातचीत न करता था, अपने अतिथि का स्वागत वह केवल एक मुस्कान से ही करता था, स्थिर और उदास चेहरे के साथ ऐसा मालूम होता था कि वह अन्य सबको नीची निगाह से देखता है, वह जब कभी बात करता उसमें विश्वास और श्रेष्ठता की झलक प्रकट होती और उसका रुख हमेशा कठोर और गम्भीर मालूम होता था। इस भाँति का वही नया बैरिस्टर था जो वकालत करने के लिये अहमदाबाद आया था। नया बैरिस्टर स्वभावतः अन्य मातहत वकीलों के लिये ध्यान देने की वस्तु था। उसका व्यक्तित्व और आचरण, सभी अपना आकर्षण रखते थे। ऐसा मालूम होता था कि वह आकर्षण, सम्मान, भय की भावनाओं के साथ ही शायद अधिकृत उपेक्षा की दृष्टि से भी दूसरों की ओर देखता है।

एक वकील की दृष्टि से अधिकतर वे फौजदारी के मुकदमे करते थे। वे गवाहों से बहुत थोड़ी जिरह करते थे, लेकिन वह असली होती थी; साथ ही आदमी परखने की उनमें इतनी अच्छी प्रतिभा थी कि गवाह पर एक तीखी दृष्टि डालने से ही वे समझ जाते थे कि यह किस भाँति का है और उसी के अनुसार उससे जिरह करते थे। मुकदमा करते समय उनकी तथ्य-सम्बन्धी पटुता और विरोधी पक्ष का उचित और सही अन्दाज़ भलीभाँति प्रकट हो जाता था। वे मुकदमे का बचाव और विरोधी पर आक्रमण भी बहुत देख-भाल के बाद करते थे। लेकिन सबसे अधिक आकर्षक विशेषता, जिसने हर एक का ध्यान आकर्षित कर उनके प्रति प्रेम उत्पन्न किया, यह उनकी निर्भीकता थी। वे जज को शिष्टाचार की सीमाओं से जरा भी परे न होने देते और न अदालत का अन्यायपूर्ण और अनुचित रूप से पुलिस या सरकारी पक्ष की ओर झुकना ही सहन कर सकते थे।

वकालत करते समय धन कमाना अथवा आराम और व्यक्तिगत आनन्द

का जीवन व्यतीत करना उनका आदर्श नहीं था । वे एक निर्धन माता-पिता की सन्तान थे । एक किसान की तरह उनका पालन-पोषण हुआ और साथ ही वे ग्रामीणों की परेशानियों को भी जानते थे । इसीसे सदैव जाति-सेवा का विचार उनमें रहता था । उन्हें अपनी पढ़ाई के लिये बहुत परिश्रम करना पड़ा था और वह पूरी तरह से आत्म-निर्भर रहे थे । पहले दिनों की इन परेशानियों ने ही उन्हें आज का व्यक्ति बनाया । प्रतिभा के साथ ही आत्म-निर्भरता, दृढ़ निश्चय और अध्यवसाय आदि गुण उन्हे दैवी वरदान के रूप में मिले थे ।

श्रीवल्लभभाई भारतवर्ष आते ही तुरन्त सार्वजनिक-जीवन में प्रविष्ट नहीं हुए, यद्यपि यह उनके जीवन का विशेष उद्देश्य था । वह सावधानी से देख रहे थे और सम्पर्क स्थापित कर रहे थे । उस समय सार्वजनिक जीवन केवल वकील वर्ग तक ही सीमित था । गाँधीजी भी, जिन्होंने कि १९१५ में अहमदाबाद सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ किया था, इच्छुक थे कि अहमदाबाद के जनप्रिय नेताओं से सम्पर्क स्थापित करे । इसी विचार से वे गुजरात-क्लब में एक या दो बार गए कि वहाँ अपने सत्याग्रह-आश्रम के विचार लोगों को समझा सके । वल्लभभाई बिलकुल अलग रहे और वे गाँधीजी के विचारों और योजनाओं के विषय में सन्देह करते तथा आलोचना किया करते थे । वे अपना दृष्टिकोण व्यक्त करने में बड़े बेरहम और रूखे थे । जब गाँधीजी क्लब में आए, उस समय वल्लभभाई अपने साथी के साथ ब्रिज खेल रहे थे । श्रीठाकर और मैं उनके पास बैठे हुए खेल देख रहे थे । जब मैं उस स्थान पर जाने को उठने लगा, जहाँ पर गाँधीजी थे, वल्लभभाई ने व्यंगोक्तियों के द्वारा मुझे हतोत्साहित कर वहाँ जाने और सुनने से रोका । क्या कोई उस समय सोच भी सकता था कि यही आदमी गाँधीजी के दर्शन का एक विश्वस्त अनुयायी और मेहमान भक्त होगा तथा उनके नेतृत्व में दृढ़ विश्वास रक्खेगा ? लेकिन यह परिवर्तन धीरे-धीरे गाँधीजी के सम्पर्क और सहकारिता का परि-

णाम था, जो उनकी निःस्वार्थ देशभक्ति और विशेष रूप से निर्धन और दलित वर्ग की सेवा में था।

इस तरह गांधीजी के अहमदाबाद आने के दो वर्ष तक वल्लभभाई उनसे दूर बने रहे। उन्होंने १९१६ मे अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी में जाकर अपना सार्वजनिक जीवन स्वतन्त्र रूप से आरम्भ कर दिया था। अपने काम के द्वारा अपने आपको पूर्ण सिद्ध करने मे उन्हें समय नहीं लगा। प्रबन्ध का पूर्ण विवरण प्राप्त करने में न तो उन्होंने समय छोड़ा और न अध्यवसाय ही; और सफाई कमेटी के चेयरमैन के रूप मे उन्होंने शहर की बड़ी सेवा की।

१८९६ से लेकर अकेला अहमदाबाद प्लेग से बचा हुआ था, जब कि देश के दूसरे भागों में बीमारी से बहुत विध्वंस हो गया था। अक्तूबर १९१७ के लगभग स्थिति कुछ गम्भीर हो गई। सबसे पहली बार लोग घर से बाहर झोपड़ों मे रहने गए और यहाँ तक कि कचहरियाँ भी बन्द हो गई। सफाई-कमेटी के प्रधान का उत्तरदायित्व बहुत भारी था। श्रीवल्लभभाई अपने स्थान पर जमे रहे। वे शहर मे बने रहे और सदैव अपने म्युनिसिपल कर्मचारियों के साथ शहर मे इधर-उधर घूमते दिखाई पड़ते थे। यह सबसे नया कार्य था, जो पूर्ववर्ती नगर-पिताओं के कार्य से एकदम विचित्र था।

अहमदाबाद भी गुजरात सभा में सम्मिलित हो गया। सभा एक राजनीतिक संघटन था, जो १८८४ में पूरे गुजरात के लिये आरम्भ किया गया था और पुरानी उदार परम्परा के आधार पर काम कर रहा था। १९१६ मे बम्बई प्रान्तीय सभा का अधिवेशन (सम्भवत १६वाँ अधिवेशन) अहमदाबाद में श्रीमुहम्मदअली जिन्ना के सभापतित्व में हो रहा था। वल्लभभाई ने इसमें कोई विशेष भाग नहीं लिया, यद्यपि वे इसमें सम्मिलित हुए। वे अपनी म्युनिसिपैलिटी के काम में लगे रहे।

लगभग जुलाई १९१७ में सर्वश्री वल्लभभाई हीरालाल देसाई गुजरात

के मन्त्री और संयुक्त मन्त्री चुने गए । इस क्लब में ही एक दिन दोपहर के पश्चात हमलोगो ने गाँधीजी की साहसिक अचलता का समाचार सुना, जो कि उन्होंने मोतीहारी (बिहार) की अदालत में मजिस्ट्रेट के विरुद्ध अपनायी थी, जिसने उनकी जाँच पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, और जिसे वे बिहार मे योरोपियन बाग-मालिक के मजदूरो की परिस्थिति के बारे मे करना चाहते थे । गाँधीजी के अहिंसात्मक विरोध का यह सबसे पहला लक्षण था। गाँधीजी ने मजिस्ट्रेट की आज्ञा मानने मे इन्कार कर दिया और जाँच छोडने की अपेक्षा जेल जाना पसन्द किया । गाँधीजी के इस कार्य ने क्लब मे हम सभी को सजग कर दिया । स्वर्गीय दीवान बहादुर हीरालाल देसाई उछल पड़े और अपने हाथ घुमाते हुए कह उठे—"मावलंकर, यही एक बहादुर आदमी है और हमे अवश्य इसको अपना (गुजरात सभा) का सभापति बनाना चाहिए ।"

यही अवसर था, जिसने वल्लभभाई का ध्यान गुजरात सभा की ओर आकर्षित किया, जो अभी तक म्युनिसिपैलिटी के कार्य तक ही सीमित थे । गाँधीजी ने सभापति बनने का हमारा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और यही से वल्लभभाई गाँधीजी के कार्योऔर कार्य-प्रणालियो के निकट आने लगे । वल्लभभाई वीर तो थे ही, गाँधीजी में भी उन्होने अपनी बहादुरी की प्रतिध्वनि पाई । मातृभूमि की सेवा मे दोनों की पारस्परिक सहकारिता इस समय से ही आरम्भ हुई ।

सभा का कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत था और उन सभी कार्यो मे वे कमेटी के सदस्य के रूप में सम्मिलित रहते और कभी-कभी पदाधिकारी भी होते थे । सौभाग्यवश सभा का मन्त्री होने के कारण मै उनके निकट अधिकाधिक आता गया, जैसे ही हमारा काम बढ़ा । सभा का एक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक काम था कि किस भाँति कैरा के किसानो की समस्या हल की जाए जिनकी फसल १९१७ के मानसून के कारण खराब हो गई थी

सभा सभी सरकारी कर्मचारियों के पास डेपुटेशन लेकर गई---कैरा के कलेक्टर से लेकर सरकार तक और इस विषय में सभी प्रभावशाली व्यक्तियो का सक्रिय सहयोग प्राप्त किया। लेकिन नौकरशाही कठोर बनी रही और इसी विषय को आगे बढाना आवश्यक हो गया। सभा के सभी सदस्य गाँधीजी की कार्यवाही-सम्बन्धी योजना से पूर्ण सहमत थे, किन्तु यह अधिक अच्छा समझा गया कि एक स्वतन्त्र कमेटी सगठित की जाय, जो सरकार पर दबाव डालकर मामला आगे बढ़ावे और गाँधीजी ने सरकार से लिखा पढी आरम्भ कर दी तथा हम सभी लोग अपने मामले के लिये प्रमाण इकट्ठे करने लगे। यही १९१७-१८ के कैरा के लगान-विरोधी मोर्चे की भूमिका थी, जोअपने विषय का सबसे प्रथम सर्वप्रिय अन्दोलन था और जिसने निर्भीकता-पूर्वक सरकार के कामो को चुनौती दी तथा जनता ने जिसकी शक्ति के प्रति विश्वास किया।

आन्दोलन की सारी कहानी बड़ी मनमोहक है,लेकिन उसका वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता। यहाँ इतना कहना ही काफी है कि गाँधीजी ने कैरा जिले में केन्द्र बनाने का निश्चय किया, लेकिन वे मोतीहारी में व्यस्त थे। अत: वे यहाँ लगातार नही रह सकते थे। समय बहुत उपयोगी था। आन्दोलन-विषय और सगठन भंग नही किया जा सकता था और इस कारण वल्लभभाई को गाँधीजी का सहकारी बनने का भार अपने कंधों पर लेना पडा था तथा उन्होंने गाँधीजी के साथ कैरा जिले में कार्य करने का निश्चय किया। यह उनका अपना जिला था और यहाँ उन्होंने अपना बचपन बिताया था। यहाँ के लोग बहादुर थे और वल्लभभाई को अच्छी तरह जानते थे। गाँधी जी को इनसे अच्छा सहकारी न मिल सकता था। वल्लभभाई ने दिलजान से अपने आपको आन्दोलन के पीछे लगा दिया और हमारा कार्यालय भी अहमदाबाद से नडियाद परिवर्तित हो गया। गाँधीजी आन्दोलन को देखने और चलाने के लिये यहाँ रहने लगे हम सबके लिये यह एक विशेष अवसर

था, जिसमें हम लोगों ने गाँधीजी के मस्तिष्क और तरीके का अध्ययन किया और साथ ही राजनीतिक क्षेत्र में उनके सत्याग्रह-सम्बन्धी सत्य और अहिंसा के प्रभाव की सराहना की। यहाँ पर ही पहली बार वल्लभभाई साधारण जनता के बीच घूमते हुए दिखाई देते थे, अपना हैट, कोट और पैण्ट छोड़कर सादी धोती और कमीज में दिन-रात इधर-उधर फिरते थे। हिन्दुस्तान मे सत्याग्रह का पहला प्रयोग सफल हुआ और दूसरों की भाँति वल्लभभाई भी गाँधीजी के प्रशंसक और अनुयायी बन गए।

इसके पश्चात् १९१९ ई० मे राष्ट्रीय आन्दोलन का एक बड़ा संकटपूर्ण समय आया। रौलट ऐक्ट और जलियान वाला बाग ने राष्ट्र को सजग कर दिया। ९ अप्रैल की ऐतिहासिक हड़ताल, सत्याग्रह का प्रस्ताव, पलपल मे गांधीजी की गिरफ्तारी, अहमदाबाद मे ११ अप्रैल, १९१९ के दिन की नागरिक हलचल, बरबादी के रूप में सरकार-विरोधी भावनाओं का प्रदर्शन, जो कुछ जनता ने सरकारी भवनो और पुलिस चौकियो पर किया था, इस भाँति की सभी घटनाएँ बडी तेजी के साथ बढ़ रही थी। १९१९ ई० के उपद्रवों मे वल्लभभाई ने कुछ अभियुक्तों की पैरवी की। कानूनी सलाहकार के रूप मे यही उनके अन्तिम काम थे।

१९१९ के पश्चात् इंडियन नेशनल काँग्रेस के दृष्टिकोण मे बड़ा आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। सितम्बर १९२० मे कलकत्ता अधिवेशन ने अहिंसात्मक आन्दोलन की योजना स्वीकार कर ली और अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी भी इसे व्यावहारिक रूप देने मे पीछे न रही। जल्दी ही मे उसके बाद नागपुर अधिवेशन आया। इसके बाद दिसम्बर, १९२१ में अहमदाबाद में अधिवेशन करने का निमन्त्रण दिया गया और सारा देश उस साल के असहयोग प्रस्ताव से उत्साहित और सजीव हो उठा। सरदार वल्लभभाई पटेल बम्बई प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी के सर्वप्रथम अध्यक्ष थे और अपने मित्र श्री इन्दुलाल याज्ञिक के साथ मुझे सर्वप्रथम मन्त्री होने का अधिकार मिला।

जब अहमदाबाद मे ३६वीं काँग्रेस की स्वागत-समिति के वल्लभभाई प्रधान थे, मै उनका प्रधान मन्त्री था और उस समय हम लोग गाँधीजी से पूरी तरह परिचित हो गए। उन दिनों शिक्षा के विषय में किया गया म्यूनिसिपल-आन्दोलन तथा अहमदाबाद म्यूनिसिपैलिटी का तद्विपयक इतिहास स्थानीय सस्थाओं के किसी भी विद्यार्थी के लिये आकर्षक विषय हो सकता है, जो राष्ट्रीय विकास में इन समस्याओं की सहायता का महत्त्व देखना चाहता है, बशर्ते कि नगर-पिता निस्वार्थ-सेवा और त्याग की भावना से प्रेरित हों।

१९२१ से लेकर अब तक उनके सार्वजनिक काम जनता को भली-भाँति विदित है, और मै उनका विवरण देना आवश्यक भी नही समझता। १९२२ मे नागपुर का झंडा-सत्याग्रह उनका काँग्रेस का सभापति होना, १९२८ में बारदोली आन्दोलन, १९३०-३१, १९३२-३४, १९४०-४१ और १९४२-४५ के सविनय अवज्ञा आन्दोलन, कॉग्रेस कार्यसमिति और पार्लियामेंटरी बोर्ड के सदस्य के रूप मे किए गए कार्य जनता के दिमाग मे ताजे है। वे महान् प्रबन्धक, बड़े संगठनकर्त्ता और एक महान् योद्धा थे। लेकिन वल्लभ-भाई का यह चित्र अधूरा ही रहेगा, यदि मै कुछ व्यक्तिगत विशेपताओ को इगित न करूँ। वे एक विश्वास-प्रिय मित्र थे और सभी परिस्थितियों मे मित्रों और सहयोगियों के प्रति आज्ञाकारिता की भावना उनमें विलक्षण थी। उनका हृदय बड़ा कोमल और दयार्द्र था। जो कठोर और स्थिर भाव के कारण उन लोगो से छिपा हुआ है, जो उनके निकट सम्पर्क में थे। मनुष्य और विषय के बारे में उनकी कुशलता और ठोस निर्णयात्मक बुद्धि के होने पर भी वे बच्चों की भाँति सरल और विश्वास-भाजन थे, लेकिन वह उन्ही के लिये जिन्हे वे अपने विश्वास का अधिकारी समझते थे। वे हर चीज को तौलते और कार्य-प्रणाली को उसी ओर मोड देते थे, जिसकी प्राप्ति को वह देश के लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझते। उनकी हाजिर-जबाबी और हास्य सब उनके अपने थे और बड़ी सकटपूर्ण स्थिति मे भी उनके साथ आप इसक कारण प्रसन्न रह सकत थ

प्रथम सत्याग्रही विनोबा

[महात्मा गाँधी के सच्चे अनुयायी, 'सर्वोदय' के प्रचारक आचार्य विनोबा का नाम उनके भू-दान यज्ञ के सम्बन्ध से समग्र भारत में विख्यात हो रहा है। उनकी दार्शनिकता, सरलता और हृदय की कोमलता के कारण उनको अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। महात्मा गाँधी के प्रति उनकी जैसी अगाध निष्ठा और श्रद्धा थी वैसी ही महात्मा गाँधी की भी उन पर प्रीति थी। यहाँ विनोबा के सम्बन्ध में स्वयं महात्मा गाँधी द्वारा लिखित संक्षिप्त परिचयात्मक लेख तथा भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के वीर सेनानी बाल गंगाधर तिलक के विषय में आचार्य विनोबा द्वारा लिखित एक संस्मरण उद्धृत किया जा रहा है।]

श्रीविनोबा भावे कौन है ? मैंने उन्हे ही इस सत्याग्रह के लिये क्यो चुना ? और किसी को क्यों नही ? मेरे हिन्दुस्तान लौटने पर सन् १६१६ मे उन्होंने कालिज छोड़ा था। वे संस्कृत के पण्डित हैं। उन्होंने आश्रम मे शुरू से ही प्रवेश किया था। आश्रम के सब से पहले सदस्यों में से वे एक है। अपने संस्कृत के अध्ययन को आगे बढ़ाने के लिये वे एक वर्ष की छुट्टी लेकर चले गए। एक वर्ष के बाद ठीक उसी घड़ी, जब कि उन्होंने एक वर्ष पहले आश्रम छोड़ा था, चुपचाप आश्रम मे फिर आ पहुँचे। मै तो भूल भी गया था कि उन्हे उस दिन आश्रम में वापस पहुँचना था। वे आश्रम मे सब प्रकार की सेवा-प्रवृत्तियों, रसोई से लगाकर पाखाना-सफाई तक—मे हिस्सा ले चुके है। उनकी स्मरण शक्ति आश्चर्यजनक है। वे स्वभाव से ही अध्ययनशील हैं। पर अपने समय का ज्यादा-से-ज्यादा हिस्सा वे कातने मे ही लगाते है, और उसमें ऐसे निष्णात हो गए है कि बहुत ही कम लोग उनकी तुलना में रखे जा सकते हैं। उनका विश्वास है कि व्यापक कताई को मारे

कार्यक्रम का केन्द्र बनाने से ही गाँवों की गरीबी दूर हो सकती है । स्वभाव से ही शिक्षक होने के कारण उन्होंने श्रीमती आशादेवी को दस्तकारी के द्वारा बुनियादी तालीम की योजना का विकास करने मे बहुत योग दिया है । श्री विनोबा ने कताई को बुनियादी दस्तकारी मान कर एक पुस्तक भी लिखी है । यह बिलकुल मौलिक चीज है । उन्होंने हँसी उड़ानेवालो को भी यह सिद्ध करके दिखा दिया है कि कताई एक ऐसी अच्छी दस्तकारी है कि जिसका उपयोग बुनियादी तालीम में बखूबी किया जा सकता है । तकली कातने मे तो उन्होंने क्रान्ति ही ला दी है; और उसके अन्दर छिपी हुई तमाम शक्तियों को खोज निकाला है । हिन्दुस्तान में हाथ कताई मे इतनी सम्पूर्णता किसी ने प्राप्त नही की, जितनी कि उन्होंने की है ।

उनके हृदय मे छुआछूत की गन्ध तक नहीं है । साम्प्रदायिक एकता में उनका उतना ही विश्वास है जितना कि मेरा । इस्लाम धर्म की खूबियों को समझने के लिये उन्होंने एक वर्ष तक कुरान शरीफ का मूल अरबी में अध्ययन किया । इसके लिये उन्होंने अरबी भी सीखी । अपने पड़ोसी मुसलमान भाइयों से अपना सजीव संपर्क बनाए रखने के लिये उन्होंने इसे आवश्यक समझा ।

उनके पास उनके शिष्यों और कार्यकर्त्ताओं का एक ऐसा दल है,जो उनके इशारे पर हर तरह का बलिदान करने को तैयार है । एक युवक ने अपना जीवन कोढ़ियो की सेवा मे लगा दिया है । उसे इस काम के लिये तैयार करने का श्रेय श्री विनोबा को ही है । औषधियों का कुछ भी ज्ञान न होने पर भी अपने कार्य मे अटल श्रद्धा होने के कारण उसने कुष्ठ-रोग की चिकित्सा को पूरी तरह समझ लिया है । उसने उनकी सेवा के लिये कई चिकित्सा-घर खुलवा दिए है । उसके परिश्रम से सैकड़ो कोढ़ी अच्छे हो गए है । हाल ही मे उसने कुष्ठ-रोगियों के इलाज के सम्बन्ध मे एक पुस्तिका मराठी मे लिखी है

विनोबा कई वर्षों तक वर्धा के महिला-आश्रम के संचालक भी रहे है। दरिद्रनारायण की सेवा का प्रेम उन्हें वर्धा के पास के एक गाँव में खीच ले गया। अब तो वे वर्धा से पाँच मील दूर पौनार नामक गाँव में जा बसे है और वहाँ से उन्होने अपने तैयार किए हुए शिष्यों के द्वारा गाँववालो के साथ सम्पर्क स्थापित कर लिया है। वे मानते हैं कि हिन्दुस्तान के लिये "राजनैतिक स्वतन्त्रता" आवश्यक है। वे इतिहास के निष्पक्ष विद्वान् हैं। उन का विश्वास है कि गाँव वालों को रचनात्मक कार्यक्रम के बगैर सच्ची आजादी नही मिल सकती। और रचनात्मक कार्यक्रम का केन्द्र है खादी। उनका विश्वास है कि चरखा अहिंसा का बहुत ही उपयुक्त बाह्य चिन्ह है। उनके जीवन का तो वह एक अंग ही बन गया है। उन्होंने पिछली सत्याग्रह की लड़ाइयो में सक्रिय भाग लिया था। वे राजनीति के मंच पर कभी लोगों के सामने आए ही नही। कई साथियों की तरह उनका यह विश्वास है कि सविनय आज्ञा भङ्ग के अनुसन्धान मे शान्त रचनात्मक काम कही ज्यादा प्रभावकारी होता है, इसकी अपेक्षा कि जहाँ आगे ही राजनैतिक भाषणों का अखण्ड प्रवाह चल रहा है वहाँ जाकर और भाषण दिए जावें। उनका पूर्ण विश्वास है कि चर्खे में हार्दिक श्रद्धा रखे बिना और रचनात्मक कार्य मे सक्रिय भाग लिए बगैर अहिंसक प्रतिकार सम्भव नहीं।

श्रीविनोबा युद्ध-मात्र के विरोधी है। परन्तु वे अपनी अन्तरात्मा की तरह दूसरों की अन्तरात्मा का भी उतना ही आदर करते है जो युद्धमात्र के विरोधी तो नही है, परन्तु जिनकी अन्तरात्मा युद्ध मे शरीक होने की अनुमति नही देती।

लोकमान्य के चरणों में

[आचार्य विनोबा भावे]

आज का नैमित्तिक धर्म लोकमान्य का पुण्य-स्मरण है। आज तिलक की पुण्य-तिथि है।

१९२० में तिलक शरीर-रूप से हमारे अन्दर नही रहे। उस समय मै बम्बई गया था। चार-पॉच दिन पहले ही पहुँचा था, परन्तु डाक्टर ने कहा, 'अभी कोई डर नहीं है।' इसलिये मैं एक काम से साबरमती जाने को रवाना हुआ। मै आधा रास्ता भी पार न कर पाया होऊँगा कि मुझे लोकमान्य की मृत्यु का समाचार मिला। मेरे अत्यन्त निकट के आत्मीय, सहयोगी और मित्र की मृत्यु का जो प्रभाव हो सकता है, वही लोकमान्य के निधन का हुआ। मुझ पर बहुत गहरा असर हुआ। उस दिन से जीवन में कुछ नयापन-सा आ गया। मुझे ऐसा लगा मानो कोई बहुत ही प्रेम करने वाला कुम्टुबी चल बसा हो, इसमें जरा भी अत्युक्ति नही है। आज इतने बरस हो गए, आज फिर उनका स्मरण करना है। लोकमान्य के चरणो मे अपनी यह तुच्छ श्रद्धांजलि अपनी गहरी श्रद्धा के कारण मैं चढ़ा रहा हूं।

तिलक के विषय में जब मै कुछ कहने लगता हूँ तो मुँह से शब्द निकलना कठिन हो जाता है, गद्‌गद् हो उठता हूँ। साधु-सन्तों का नाम लेते ही मेरी जो स्थिति होती है, वही इस नाम से भी होती है। मै अपने चित्त का भाव प्रकट ही नही कर सकता। उत्कट भावना को शब्दों में व्यक्त करना कठिन होता है। गीता का भी नाम लेते ही मेरी यही स्थिति हो जाती है। मानो स्फूर्ति का सचार हो जाता है। भावनाओं की प्रचण्ड बाढ आ जाती है। वृत्ति उमड़ने लगती है। परन्तु यह बड़प्पन मेरा नही है। बड़प्पन गीता का है। यही हाल तिलक के नाम का है। मैं तुलना नही करता। क्योकि तुलना में सदा दोष आ जात है परन्तु जिनक नाम-ही स्मरण में एसी स्फूर्ति

देने की शक्ति है, उन्ही मे से तिलक भी है । मानो उनके स्मरण में ही शक्ति संचित है ।

तिलक का पहला गुण कौन-सा था ? तिलक जातित. ब्राह्मण थे। लेकिन जो ब्राह्मण नही है वे भी उनका स्मरण कर रहे है । तिलक महाराष्ट्र के मराठे थे । लेकिन पंजाब के पंजाबी और और बंगाल के बगाली भी उन्हे पूज्य मानते है । हिदुस्तान तिलक का ब्राह्मणत्व और उनका मराठापन, सब-कुछ भूल गया है । यह चमत्कार है । इसमे रहस्य है—दोहरा रहस्य है । इस चमत्कार मे तिलक का गुण तो है ही, हमारे पूर्वजो की कमाई का भी गुण है । जनता का एक गुण और तिलक का एक गुण—दोनों के प्रभाव से यह चमत्कार हुआ कि ब्राह्मण और महाराष्ट्रीय तिलक सारे भारत में सभी जातियों द्वारा पूजे जाते है । दोनों के गुण की ओर हमे ध्यान देना चाहिए ।

तिलक का गुण यह था कि उन्होंने जो कुछ किया उसमें सारे भारतवर्ष का विचार किया । तिलक के फूल बम्बई मे गिरे, इसलिये वहाँ उनके स्मारक मन्दिर होंगे । उन्होने मराठी में लिखा, इसलिये मराठी भाषा मे उनके स्मारक होंगे । लेकिन तिलक ने जहाँ कहीं जो कुछ किया—चाहे जिस भाषा में क्यो न किया हो, वह भारतवर्ष के लिये किया । उन्हें यह अभिमान नही था कि मै ब्राह्मण हूँ, मै महाराष्ट्र का हूँ । उनमे पृथकता की, भेद की भावना नही थी । वह महाराष्ट्रीय थे तो भी उन्होंने सारे भारतवर्ष का विचार किया । जिन अर्वाचीन महाराष्ट्रीय विभूतियो ने सारे भारतवर्ष का विचार किया, तिलक उनमें से एक थे । और दूसरे जो मेरी दृष्टि के सामने आते हैं, वह थे महर्षि न्याय मूर्ति रानाडे । तिलक ने महाराष्ट्र को अपनी जेब मे रखा और सारे हिन्दुस्तान के लिये लडते रहे । "हिन्दुस्तान के हित में मेरे महाराष्ट्र का भी हित है, इसीलिये पूने का हित है और पूने में रहनेवाले मेरे परिवार का हित है और परिवार के हित से मेरा भी हित है । हिन्दुस्तान के

हित का विचार करने से उसी में महाराष्ट्र, पूना, मेरा परिवार और मैं, सबके हित का विचार आ जाता है ।" यह तत्त्व उन्होंने जान लिया था और उसी के अनुसार उन्होंने काम किया । ऐसी विशाल उनकी व्याख्या थी । जो सच्ची सेवा करना चाहता है, उसे वह सेवा किसी मर्यादित स्थान मे करनी पडेगी । लेकिन उस मर्यादित स्थान मे रहकर जीनेवाली सेवा के पीछे जो वृत्ति रहेगी, वह विशाल, व्यापक और अमर्यादित होनी चाहिए ।

परमात्मा के यहाँ 'कितनी सेवा' यह पूछ नहीं है । 'कैसी सेवा' यह पूछ है । तिलक अत्यन्त बुद्धिमान्, विद्वान् नाना शास्त्रो के पंडित थे, इसलिये उनकी सेवा अनेकाङ्गी और बहुत बड़ी है । परन्तु तिलक ने जितनी कीमती सेवा की उतनी ही कीमती सेवा एक देहाती सेवक भी कर सकता है । तिलक की सेवा विपुल और बहु-अङ्गी थी तो भी उसका मूल्य और एक तुच्छ सेवक की सेवा का मूल्य बराबर हो सकता है । एक गाड़ीभर ज्वार रास्ते से जा रही हो, लेकिन उसकी कीमत मैं अपनी छोटी-सी जेब मे रख सकता हूँ । दस हजार का नोट अपनी जेब मे रख सकता हूँ । उस पर सरकारी मुहर भर लगी हो । आपकी सेवा पर व्यापकता की मुहर लगी होनी चाहिए । अगर कोई सेवा तो बहुत करे पर व्यापक-दृष्टि और वृत्ति से न करे तो उसकी कीमत व्यापक-दृष्टि से की हुई छोटी-सी सेवा की अपेक्षा कम ही मानी जाएगी । व्यापक-वृत्ति से की हुई अल्प सेवा अनमोल हो जाती है, यह उसकी खूबी है । आप और मैं सब कोई सेवा कर सकें, इसीलिये परमात्मा की यह योजना है । चाहे जहाँ, चाहे जो कुछ भी कीजिए, पर संकुचित दृष्टि से न कीजिए । उसमें व्यापकता भर दीजिए । यह व्यापकता आज के कार्यकर्त्ताओं में कम पाई जाती है । कुशल कार्यकर्त्ता आज संकुचित दृष्टि से काम करते हुए दीख पड़ते हैं ।

तिलक की दृष्टि व्यापक थी, इसलिये उनके चारित्र्य मे मिठास और आनन्द है हिन्दुस्तान के ही नही बल्कि संसार के किसी भी समाज के

वास्तविक हित का विरोध न करते हुए चाहे जहाँ सेवा कीजिए । चाहे वह एक गाँव की ही सेवा क्यों न हो, वह अनमोल है । परन्तु यदि बुद्धि व्यापक हो तो अपनी दृष्टि व्यापक बनाइए । फिर देखिए आप के कर्मों में कैसी स्फूर्ति का संचार होता है । कैसी बिजली का संचार होता है । तिलक में यही व्यापकता थी । 'मैं भारतीय हूँ' यह शुरू से यही उनकी वृत्ति रही । बंगाल में आन्दोलन शुरू हुआ । उन्होंने दौड़कर उसकी मदद की । बंगाल का साथ देने के लिये महाराष्ट्र को खड़ा किया । स्वदेशी का डंका बजवाया । "जब बंगाल लड़ाई के मैदान में खड़ा है, तो हमें भी जाना चाहिए । जो बंगाल का दुःख है, वह महाराष्ट्र का भी दुःख है ।" ऐसी व्यापकता, सर्वराष्ट्रीयता तिलक में थी । इसीलिये पूने के निवासी होकर भी वे हिन्दुस्तान के प्राण बन गए । सारे देश के प्रिय बने, तिलक सारे भारतवर्ष के लिये पूजनीय हुए, इसका एक कारण यह था कि उनकी दृष्टि सर्वराष्ट्रीय थी, व्यापक थी ।

लेकिन इसका एक दूसरा भी कारण था । वह था जनता की विशेषता । जनता का यह गुण कार्यकर्त्ताओं में भी है, क्योंकि वे भी तो जनता के ही हैं । लेकिन उनको खुद इस बात का पता नहीं है । तिलक के गुण के साथ जनता के गुण का स्मरण भी करना चाहिए, क्योंकि तिलक अपने आपको जनता के चरणों की धूल समझते थे । जनता के दोष, जनता की दुर्बलता, जनता की त्रुटियाँ, सब-कुछ वे अपनी ही समझते थे । वे जनता से एकरूप हो गए थे, इसलिये जनता के गुणों का स्मरण तिलक के गुणों का स्मरण ही है ।

पंडित जवाहरलाल नेहरू

[देश और विदेश में समान रूप से विख्यात नव-भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू के विषय में भारत के सुप्रसिद्ध धनी- मानी और दानी घनश्यामदास बिड़ला ने संस्मरण के रूप में जो कुछ लिखा है उसे आगे की पंक्तियों में पढ़िए ।]

पंडित जी को दूर से तो मैं वैसे कई वर्षों से देखता आ रहा था, पर पहले-पहल मेरी भेंट उनसे १९२४ मे हुई । गाँधीजी अपने अपेंडिक्स के आपरेशन के बाद जेल से छूट कर आए थे और स्वास्थ्य लाभ के लिये जुहू ठहरे हुए थे । एक रोज मैं गाँधी जी से मिलने जुहू गया तो बातों ही बातों मे उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या जवाहरलाल को जानते हो ?" "दूर से ही देखा है, कभी मिला नहीं हूँ ।" मैने कहा । "तो मिल लो और मैत्री करने का प्रयत्न करो ।" मै गाँधी जी के पास से उठकर पंडित जी के पास गया । वह बरामदे के एक कोने में बैठे थे । वह दृश्य मुझे स्पष्ट याद है । उनके चेहरे पर ताजगी थी, सौन्दर्य था और जवानी थी । मुझे ऐसा भी स्मरण है कि उनके हाथ में गीता की पुस्तक थी, जिसका वह अध्ययन कर रहे थे । उस समय जो पहली छाप मुझपर पड़ी, उससे मुझे लगा कि मैं उनके हृदय में कदाचित् ही प्रवेश कर सकूँ । मेरी वह प्रथम धारणा आज भी मुझे सही ही लगती है ।

मैं स्वनामधन्य पंडित मोतीलाल जी के पास काफी उठा-बैठा हूँ । लाला लाजपतराय और पंडित मालवीय जी की भी मैने सेवा की । बापू के चरणों में ३२ वर्ष तक रहा । पर पंडित जवाहरलाल जी इन सब से मुझे निराले दिखे है । मालवीय जी एक निर्मल जल के सरोवर जैसे लगते थे, जिसमें प्रवेश करने में मुझे कभी झिझक नही होती थी । बापू ऐसे लगते थे जैसे गंगा की पवित्र धारा इसमें स्नान करने से सुख और शान्ति मिलती थी

पर विजय पाने में अब तक निष्फल रहा है। जो कुछ हुआ है वह इतना ही कि मनुष्य प्रकृति से सहयोग करके उसका उपयोग करता रहा है।" यह नास्तिकता नहीं, परले सिरे की आस्तिकता है।

साधन और साध्य में सामञ्जस्य को गाँधी जी ने अपने प्रवचनों में काफी महत्व दिया है। अच्छे ध्येय के लिये भी बुरे साधनों का उपयोग त्याज्य है, इस पर गाँधी जी ने जितना भार दिया है, उतना हमारे प्राचीन लोगों ने शायद ही दिया हो।

राजनीतिक दाँव-पेंच हर युग में चलते रहे और हमारे पूर्वज भी इन दाँव-पेंचों से वंचित न थे। देव-दानवों के संघर्ष में देवों की गिरती आई तो वामन ने बलि को धोखा दिया। इसके पहले भी विष्णु ने मोहिनी बनकर दैत्यों से अमृत चुराया। राम ने छिप कर बालि को मारा। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। भारत की भविष्य की परराष्ट्रनीति इन दाँव-पेंचों का तिरस्कार करेगी, ऐसा मानने की भी कोई गुँजाइश नहीं। पर गाँधी जी इस पैंतरेबाजी से परे थे और उस नीति का जवाहरलालजी पर भी प्रभाव पड़ा है, ऐसा उनके अनेक उद्‌गारों से पता चलता है। गाँधी जी का यह सुवर्ण नियम स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कभी कसौटी पर नहीं चढ़ा। जवाहर-लाल जी यदि इसको व्यावहारिक रूप में सफल कर दिखाएँगे तो अवश्य ही हमारी एक अद्‌भुत विजय होगी।

जवाहरलाल जी एक महान् व्यक्ति हैं। उनमें महत्ता क्या है, इसका विश्लेषण कष्टसाध्य है। सोना या हीरा केवल अपने बुनियादी तत्त्वों के कारण ही कीमती नहीं होता। कहते हैं कि जो तत्त्व हीरे में है वह कोयले में भी है। पर कोयला कोयला ही है और हीरा हीरा ही। पंडित जी में अभय है, न्यायबुद्धि है, कुशाग्रता है। पर उन्हें किस चीज़ ने बड़ा बनाया, यह बताना असम्भव है। बात यह है कि वह बड़े हैं और इस देश को उनकी सेवा की अत्यन्त आवश्यकता है।

वह तिरसठ साल के हो चले, यह घटना किसी को आह्लादित नही कर सकती । पर घड़ी की सूई पीछे नही घूम सकती । इस तरह हमारे चाहने पर भी पचास के हो जाने की बात ही क्या, जवाहरलाल जी तिरसठ मे से एक क्षण भी पीछे नही जा सकते । इसलिये हम उतने ही से सन्तोष करे कि ईश्वर उन्हें लम्बी आयु दे ।

मेरा बचपन

[यह अवतरण 'मेरी कहानी' नाम की आत्मकथा से लिया गया है। इसमें नेहरू जी ने अपने परिवार और बाल-जीवन का बड़ा सुन्दर चित्र उपस्थित किया है ।]

मेरा बचपन बडों की छत्र-छाया में बीता । उसमे कोई महत्त्व की घटना नही हुई । मै अपने चचेरे भाइयों की बाते सुनता, मगर हमेशा सब की सब मेरी समझ में आ जाती हों सो बात नही । अक्सर ये बाते अंग्रेज और यूरेशियन लोगों के ऐठू स्वभाव और हिन्दुस्तानियों के साथ अपमान-जनक व्यवहारो के बारे मे हुआ करती और इस बात पर भी चर्चा हुआ करती कि प्रत्येक हिन्दुस्तानी का फर्ज होना चाहिए कि वह इस हालत का मुकाबिला करे और इसे हरगिज बरदाश्त न करे । हाकिमों और लोगों मे टक्करें होती रहती थी और उनके समाचार आए दिन सुनाई पड़ते थे । उन पर खूब बहस भी होती थी । हालाँकि देश मे विदेशी शासको का रहना और उनका रंग-ढंग मुझे नागवार मालूम होने लगा था, तो भी मुझे जहाँ तक याद है, किसी अंग्रेज के लिये मेरे दिल मे बुरा भाव नही था । मेरी अध्यापिकाएँ अंग्रेज थी और कभी-कभी मै देखता था कि कुछ अंग्रेज भी पिताजी से मिलने के लिये आया करते थे । बल्कि यों कहना चाहिए कि अपने दिल मे यों तो मै अंग्रेज की इज्जत ही करता था ।

शाम को रोज़ कई मित्र पिता जी से मिलने आया करते थे। पिता जी आराम से पड़ जाते और दिन भर की थकान मिटाते। उनकी ज़बरदस्त हँसी से सारा घर भर जाता। इलाहाबाद मे उनकी हँसी एक मशहूर बात हो गई थी। कभी-कभी मैं परदे की ओट से उनकी और उनके दोस्तों की ओर झाँकता और यह जानने की कोशिश करता कि देखें ये बड़े लोग इकट्ठे होकर आपस में क्या-क्या बातें करते है। मगर जब कभी ऐसा करते हुए मैं पकड़ा जाता तो मैं खीच कर बाहर लाया जाता और मैं, सहमा हुआ, कुछ देर तक पिता जी की गोदी मे बैठाया जाता।

उनकी तेज-मिजाजी की एक घटना मुझे याद है। बचपन ही में मैं उसका शिकार हो गया था। कोई ५-६ वर्ष की मेरी उम्र रही होगी। एक रोज़ मैंने पिता जी की मेज़ पर दो फाउन्टेन पेन पडे देखे। मेरा जी ललचाया। मैंने दिल में कहा—पिता जी एक साथ दो पेनो को क्या करेगे? एक मैंने अपनी जेब मे डाल ली। बाद में बड़े जोरो से तलाश हुई कि पेन कहाँ चला गया? तब तो मैं घबराया। मगर मैंने बताया नहीं। आखिर पेन मिल गया और मैं गुनाहगार क़रार दिया गया। पिता जी बहुत गुस्सा हुए और मेरी खूब जी भर कर मरम्मत की। आखिर पिट कर शर्म से अपना-सा मुँह लिए मैं माँ की गोद मे दौड़ा गया। इतना पिटा था कि कई दिन तक मेरे बदन मे क्रीम और मरहम लगाने पड़े।

लेकिन मुझे याद नही पड़ता कि इसके कारण पिता जी के प्रति मेरे मन मे कोई बुरा भाव पैदा हुआ हो। मैं समझता हूँ, मेरे दिल ने यही कहा होगा, कि सज़ा तो मुझे वाजिब मिली, मगर थी जरूरत से ज्यादा। लेकिन मेरे दिल में वैसी ही इज्जत और मुहब्बत बनी रही—हाँ, अब एक डर उसमें और शामिल हो गया था। मगर माँ के साथ ऐसा नही था। उससे मैं बिलकुल नही डरता था, क्योंकि मैं जानता था कि वह मेरे सब कुछ किये-

धरे को माफ कर देगी और उसके इस ज्यादा और बेहद प्रेम के कारण मैं उस पर थोड़ा-बहुत हावी होने की भी कोशिश करता था ।

एक और शख्स, जो लड़कपन में मेरे भरोसे के आदमी थे, वह पिता जी के मुँशी मुबारिक अली थे । वह बदाऊँ के रहने वाले थे और उनके घर के लोग खुशहाल थे । मगर १८५७ के गदर ने उनके कुनबे को बरबाद कर दिया और अंग्रेजी फौज ने उसको एक हद तक जड़-मूल से उखाड़ फेंका था । इस मुसीबत ने उन्हें हरएक के प्रति और खास कर बच्चों के प्रति, बहुत नम्र और सहन-शील बना दिया था, और मेरे लिये तो वह, जब कभी मैं किसी बात से दुखी होता या तकलीफ महसूस करता तो सान्त्वना के निश्चित आधार थे । उनके बढ़िया सफेद दाढ़ी थी और मेरी नौजवान आँखों को वह पुराने और जानकारी के खज़ाने मालूम होते थे । मैं उनके पास लेटे-लेटे घण्टों अलिफ-लैला के और दूसरे किस्से-कहानियाँ या १८५७ और १८५८ की बातें सुना करता । बहुत दिन बाद, मेरे बड़े होने पर, मुंशी जी इन्तकाल कर गए । उनकी प्यारी सुखद स्मृति अब भी मेरे मन में बसी हुई है ।

हिन्दू-पुराणों और रामायण-महाभारत की कथाएँ भी सुना करता था जो कि मेरी माँ और ताइयाँ सुनाया करती थीं । मेरी एक ताई, पडित नन्द-लाल जी की विधवा पत्नी, पुराने हिन्दू-ग्रन्थों की बहुत जानकारी रखती थी । उनके पास इन कहानियों का तो मानों खजाना ही भरा था ।

कभी-कभी मैं अपनी माँ या ताई के साथ गंगा नहाने जाया करता और कभी इलाहाबाद या काशी या दूसरी जगह मन्दिरों में भी या किसी नामी और बड़े साधू-संयासी के दर्शन के लिये भी जाया करता । फिर त्यौहार के दिन आते थे—होली, जबकि सारे शहर में रंगरेलियों की धूम मच जाती थी और हम लोग एक दूसरे पर रंग की पिचकारियाँ चलाते थे; दिवाली रोशनी का त्योहार होता, जब कि सब घरों पर धीमी रोशनी वाले मिट्टी के हजारों दीये

जलाए जाते; जन्माष्टमी, जिसमे कि जेल मे पैदा हुए श्रीकृष्ण की आधी रात को वर्ष-गाँठ मनाई जाती (लेकिन उस समय तक जागते रहना हमारे लिए बड़ा मुश्किल होता था), दशहरा और रामलीला, जिसमे कि स्वांग और जुलूसों के द्वारा रामचन्द्र और लंका-विजय की पुरानी कहानी की नक़ल की जाती थी और जिन्हें देखने के लिये लोगों की बड़ी भारी भीड़ इकट्ठी होती थी। सब बच्चे मुहर्रम का जुलूस भी देखने जाते थे जिसमें रेशमी अलम होते थे और सुदूर अरब में हसन और हुसैन के साथ घटित घटनाओं की यादगार मे शोकपूर्ण मरसिए गाए जाते थे।

मगर इन तमाम उत्सवों मे मुझे एक सालाना जलसे मे सबसे ज्यादा दिलचस्पी रहती थी, जिसका खास मुझी से ताल्लुक था——यानी मेरी वर्ष-गाँठ का उत्सव। इस दिन मैं बडे उत्साह और रग मे रहता, सुबह ही एक बडी तराजू मे मै गेहूँ और दूसरी चीज़ो के थैलों से तौला जाता और फिर वे चीजें गरीबों को बाँट दी जातीं और बाद को नये-नये कपडो से सजा-धजा कर मुझे भेट और तुहफे नजर किए जाते। फिर तीसरे पहर दावत दी जाती। उस समय मै अपने को को मानों उस सारे जलसे का सरदार ही पाता था। मगर मुझे इस बात का बड़ा दु.ख था कि वर्ष-गाँठ साल मे एक बार ही क्यों आती है?

कभी-कभी हम सब घर के लोग अपने किसी भाई या किसी रिश्तेदार या किसी दोस्त की शादी में बारात मे जाया करते। उस सफर मे बड़ी धूम रहती। शादी के उत्सव मे हम बच्चो की तमाम पाबन्दियाँ ढीली हो जाती थी और हम आजादी से आ जा सकते थे। शादीखाने मे कुटुम्बो के लोग आ कर रहते थे और उनमें बहुतेरे लड़के और लड़कियाँ भी होती थीं। ऐसे मौकों पर मुझे अकेलेपन की शिकायत नही रहती थी और जी भरकर खेल-कूदने और शरारत करने का मौका मिल जाता था। हाँ, कभी-कभी बड़े-बूढों की डाँट फटकार भी ज़रूर पड़ जाती थी। इस तरह मेरा बचपन गुजरा।

देशरत्न डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद

[राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू के त्याग और तपस्यामय जीवन के सम्बन्ध में देश और विदेश के अनेक विद्वान् प्रायः नित्य ही कुछ न कुछ अपूर्व ढंग से लिखा करते हैं। अग्रिम लेख प्रयाग के प्रसिद्ध पत्रकार पुरुषोत्तमदास टण्डन ने कुछ संस्मरणात्मक शैली में लिखा है। इसमें राजेन्द्र बाबू की व्यक्तिगत विशेषताओं का तथा उनके सम्बन्ध में व्यक्त किए गए देश के महान् नेताओं के उद्‌गारों का बड़े सुन्दर ढंग से समावेश किया गया है। पढ़िए।]

१९३५ का वर्ष था। इलाहाबाद क्रिश्चियन कालेज में अपना कृश शरीर साधारण वस्त्रों से आच्छादित किए एक दीर्घकाय व्यक्ति छात्रों को ईमानदारी और रचनात्मक कार्य का महत्त्व समझा रहा था। उसके कृषक जैसे मुख-मण्डल पर दो विशाल नेत्र चमक रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो वे नेत्र हमारे हृदयों के भीतर झाँक रहे हों। उसकी गम्भीर भाषण-शैली सभी के हृदयों में यह विश्वास उत्पन्न कर रही थी कि वह जो कुछ कहता है, उसे अपने जीवन में कार्यान्वित भी करता है। यह कोई साधारण व्यक्ति नहीं वरन् देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद थे। इस महान् एकनिष्ठ गाँधीवादी के लिये भारत के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में अपार श्रद्धा और सम्मान है। वे अत्यन्त विनम्र हैं और कभी-कभी तो उनकी यह विनम्रता लोगों को उलझन में डाल देती है। प्रायः लोग यह भी कहते देखे जाते हैं कि यह ढीले व्यक्ति हैं और सरलतापूर्वक दूसरों से प्रभावित हो जाते हैं। यह सत्य है कि झगडा करना उनके वश का नहीं और वे दूसरों पर अपनी सम्मति लदना भी नहीं चाहते, परन्तु यह कि वे किसी बात को बिना सोचे समझे मान लेते है, असत्य है। हाल ही में उनके एक मित्र ने कहा था कि राजेन्द्र बाबू शक्ति नहीं लगाते और जो कुछ नेहरू जी

अथवा सरदार पटेल कहते अथवा करते हैं, उसको स्वीकार कर लेते हैं। सम्भवतः किसी सीमा तक यह कथन सत्य है। परन्तु इसमें सभी ,अधिकाँशतः एकमत होंगे कि यदि कभी किन्हीं बातों पर अपना मतभेद होते हुए भी उनकी मान लेते हैं, तो वे ऐसा अनुशासन सुदृढ़ रखने के उद्देश्य से करते हैं। परन्तु राष्ट्र इस महान् गाँधीवादी से यह आशा रखता है कि वह गाँधीजी की उच्च परम्पराओं को स्थिर रखे और किसी व्यक्ति से, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, मौलिक मतभेद होने पर बिना किसी झिझक के स्पष्ट शब्दों में उसे व्यक्त करे और बलपूर्वक मनवाने का प्रयत्न करे।

डा० राजेन्द्रप्रसाद केवल एक राजनीतिज्ञ ही नहीं, वरन् एक प्रकाण्ड विद्वान् भी हैं। बाल्यावस्था से ही उनकी साहित्य तथा अन्य विषयों के प्रति प्रगाढ़ रुचि रही है और उन पर उनका पूर्ण अधिकार है। वे कई भाषाएँ जानते हैं और सरलतापूर्वक उनमें लिख-बोल सकते हैं। हिन्दी में उनकी आत्मकथा हिन्दी साहित्य को उनकी एक अपूर्व देन है। आत्मकथा पढ़ते समय उनके साहित्यिक व्यक्तित्व की गुरुता की झलक मिलती है। उनकी भाषा सरल और सुस्पष्ट है तथा विचारों की अभिव्यक्ति में ईमानदारी है। सरदार पटेल ने इस पुस्तक के विषय में लिखा था कि "उनकी आत्मकथा के प्रत्येक पृष्ठ पर राजेन्द्र बाबू की सरलता और विनम्रता की स्पष्ट छाप है। उनकी आत्मकथा भारतीय जन-आन्दोलन के गत ३० वर्षों का इतिहास है।"

डा० राजेन्द्रप्रसाद स्वभावतः झेंपू हैं और उन्हें किसी पर क्रोध नहीं आ सकता। उन्होंने अपनी आत्मकथा में स्वयं लिखा है कि "मैं बचपन ही से दब्बू रहा हूँ और किसी बड़े मामले में मैं तुरन्त कोई फैसला नहीं कर पाता।" जब गोखले ने राजेन्द्रप्रसाद को भारत-सेवक मण्डल (सर्वेंट्स आव इण्डिया सोसाइटी) में सम्मिलित होने के लिये लिखा तो वे इसके लिये तुरन्त उद्यत

हो गए, परन्तु बड़े भाई की सम्मति की उपेक्षा करने की न तो उनकी इच्छा थी और न साहस ही था। तथापि उन्होंने अपने भाई को एक अत्यन्त विनम्रता-पूर्ण पत्र लिखा, जिसमे उन्होंने 'भारत सेवक-मण्डल' मे सम्मिलित होने की अनुमति देने की प्रार्थना की, जिससे उन्हें देश-सेवा का पूरा अवसर मिल सके। इस पत्र से उनके महान् व्यक्तित्व का पता चलता है। उन्होंने लिखा—"भाई साहब, भावुक होने के कारण आपके सामने बात करने की मेरी हिम्मत नही। आपको कठिनाई और परेशानी मे डालकर चला जाना कृतघ्नता होगी, परन्तु ३० करोड जनता के लिये मै कुछ त्याग करना चाहता हूं। श्री-गोखले की सस्था में सम्मिलित होकर व्यक्तिगत रूप से मुझे कोई त्याग नही करना पड़ेगा। मुझको ऐसी शिक्षा मिली है कि मै जिस भी परिस्थिति मे रहूँ अपने को उसी के अनुकूल बना सकता हूँ। मेरा रहन-सहन सरल है और इसीलिये मुझे किसी विशेष सुविधा की आवश्यकता नही। जो कुछ भी मुझे सस्था से मिलेगा वही मेरे लिये पर्याप्त होगा। परन्तु मैं यह नही कह सकता कि आपको त्याग नही करना पड़ेगा। आपको बड़ी-बडी आशाएँ थी और एक क्षण में उन पर पानी फिर जाएगा। परन्तु इस क्षणभगुर ससार मे धन, पद और सम्मान सभी नष्ट हो जाते है। जितना ही धन बढता है, उतनी ही आवश्यकता बढ़ती जाती है। यद्यपि लोग कह सकते है कि उनको धन से सन्तोष मिलता है, तथापि जिन्हे थोड़ा बहुत भी ज्ञान है, वह जानते है कि सन्तोष हृदय की वस्तु है, बाहर से नही प्राप्त होती। करोड़पति की अपेक्षा एक गरीब आदमी अपने थोडे पैसे से अधिक सन्तुष्ट रहता है। ऐसी स्थिति मे हमे गरीबों से घृणा नही करनी चाहिए। विश्व के महान् व्यक्ति सबसे गरीब रहे है। यद्यपि आरम्भ मे लोगों ने उन्हे यातनाएं दी और उनको घृणा की दृष्टि से देखा। परन्तु हँसी उड़ानेवाले और यातना देनेवाले धूल मे मिल गए, उनका कोई अस्तित्व नहीं, उनकी कोई बात भी नही करता, परन्तु जिन लोगो ने यातनाएँ भोगी और घृणा के पात्र बने, वे करोड़ों लोगों के मन

और ध्यान मे बसते है । यदि जीवन की मेरी कुछ भी आकांक्षा है तो यह है, कि मै देश की सेवा मे लगूँ । मुझ में मातृभूमि की सेवा के अतिरिक्त कोई भी महत्त्वाकाक्षा नही है । कौन राजा अथवा साधारण व्यक्ति है जो गोखले-सा प्रभावशाली है अथवा उसको उनका-सा ऊँचा दर्जा और सम्मान मिला है ? फिर भी क्या वे गरीव व्यक्ति नही है ?" यह पत्र इस बात का प्रमाण है कि बाल्यावस्था मे ही डा० राजेन्द्रप्रसाद मे अपनी मातृभूमि की सेवा करने की उत्कट अभिलाषा थी और उन्होंने इसे सत्य करके दिखा दिया है। आपके भाई इस प्रार्थना को स्वीकार करने मे असमर्थ रहे और एक छोटे भाई की भाँति आपने अपने बड़े भाई के आदेश को शिरोधार्य किया और उक्त सस्था मे सम्मिलित होने के लिये पुनः नही गए ।

डा० राजेन्द्रप्रसाद का जन्म ३ दिसम्बर १८८५ को हुआ था । आपके पिता का नाम मुँशी महादेव प्रसाद था, वे एक जमींदार थे । राजेन्द्र बाबू अपने माता-पिता के पाँचवें और सबसे छोटे लड़के थे । आप बहुत ऊँचे कायस्थ वंश में उत्पन्न है । उन दिनों उनके गाँव मे यह प्रसिद्ध था कि जो मदिरा-पान करेगा वह कोढी हो जायगा । राजेन्द्र बाबू ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है कि उनके परिवार के किसी सदस्य ने कभी मद्यपान नहीं किया और अब तक इस परम्परा का निर्वाह किया जा रहा है । आप १८९३ में छपरा के स्कूल में भरती किए गए और १९०२ मे कलकत्ता विश्वविद्यालय की एन्ट्रेन्स परीक्षा मे सर्वप्रथम रहे । आप सर्वप्रथम बिहारी छात्र थे, जिन्हें यह विशिष्ट सफलता मिली । बिहार की तत्कालीन प्रमुख मासिक पत्रिका "इण्डियन रिव्यू" ने राजेन्द्र बाबू की प्रतिभा से प्रभावित होकर लिखा—"तरुण राजेन्द्र हर प्रकार से एक प्रतिभाशाली छात्र है । आशा है कि वह विश्वविद्यालय मे अपनी पूर्ण सफलता के स्तर को स्थिर रख सकेगा । और एक दिन आवेगा जब वह प्रान्त के हाईकोर्ट मे उचित पद प्राप्त करेगा ।" यह आशा अवश्य पूर्ण होती यदि राजेन्द्र बाबू गाँधीजी के प्रभाव मे आकर

राजनीतिक आन्दोलन में न कूदते । वकालत से उनकी आय बहुत अच्छी थी और सारे वकीलों के हृदय में उनके प्रति बहुत अधिक सम्मान था । उन्होंने अपने निर्मल चरित्र और ईमानदारी से सभी को प्रभावित कर रखा था । उन्होंने बहुत धन कमाया परन्तु आय का अधिकांश वे गरीबों, दुखियों और लोकहित के कार्यों को आर्थिक सहायता देने में व्यय कर देते थे । जब वकालत छोड़कर वे असहयोग-आन्दोलन में सम्मिलित हुए तब उनके पास बैंक में केवल १५) शेष रह गए थे । सन् १६०६ में आपने बी० ए० पास करके एम० ए० में अंग्रेजी ली और प्रत्येक परीक्षा में सर्वप्रथम रहे । वकालत आरम्भ करने के पूर्व वे मुजफ्फरपुर में कुछ समय तक प्रोफेसर रहे ।

राजेन्द्र बाबू जब पाँचवीं कक्षा में थे,तभी १२ वर्ष की अल्प आयु में उनका विवाह कर दिया गया था । उस समय उन्हे विवाह के वास्तविक महत्त्व का कुछ भी ज्ञान नही था, जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी आत्मकथा में किया है ।

चम्पारन-आन्दोलन ने बिहार और राजेन्द्र बाबू का नाम अमर कर दिया है । ब्रिटिश अत्याचारों से त्रस्त नील की खेती करनेवालों की ओर से गाँधी जी के नेतृत्व मे चम्पारन मे आन्दोलन आरम्भ हुआ । आन्दोलन सफल रहा और सरकार को घुटने टेकने पड़े । जनता को विजय मिली और गाँधी जी को मिले राजेन्द्रप्रसाद, जो आगे चलकर गाँधीजी के प्रमुख सहयोगी बने । स्वर्गीय श्रीसत्यमूर्ति ने राजेन्द्र बाबू की प्रशंसा में लिखा था, "भारत मे उनकी कोटि के बहुत कम व्यक्ति हैं और यदि भारत के राजनीतिक जीवन का दिव्य उत्तराधिकार आवश्यक समझा जाय तो मेरा विचार है कि महात्मा गाँधी का उत्तराधिकारी अगर कोई बन सकता है, तो वह राजेन्द्र बाबू के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति नहीं हो सकता ।"

राजेन्द्र बाबू कांग्रेस के अध्यक्ष रह चुके हैं और उसके जेनरल सेक्रेटरी के पद पर भी काम कर चुके है । जब आप कलकत्ता में पढते थे तब वे उस

समय १६०६ के २२ वें कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे। राजेन्द्र बाबू ने स्वयंसेवक के रूप में उक्त अधिवेशन का कार्य किया। १६३४ में सर्वसम्मति से आप कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित किए गए। तदनन्तर जब कभी कोई कठिनाई उपस्थित हुई तो उसे दूर करने में आपका सहयोग लिया गया। त्रिपुरा कांग्रेस के पश्चात् सभी की आँखें आपकी ही ओर लगी हुई थी और एक लम्बे आवेषपूर्ण वाद-विवाद के अनन्तर आप कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। आप कांग्रेस महासमिति के १६१२ से और कार्यसमिति के १६२२ से निरन्तर सदस्य रहे हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् आप भारत सरकार के खाद्य-मन्त्री बनाए गए। इस पद पर आपने सफलतापूर्वक कार्य किया और अपने समस्त सहयोगियों को प्रभावित किया। इस समय आप भारत के राष्ट्रपति है और आपको सभी का विश्वास और सम्मान प्राप्त है। राजेन्द्र बाबू को देखकर बहुत कम व्यक्तियों को यह विश्वास होगा कि वह विदेश-भ्रमण भी कर चुके है। वास्तविकता यह है कि उन्होंने विदेशों का बहुत भ्रमण किया है। वह जर्मनी, इटली इत्यादि बहुत देशों की यात्रा कर चुके हैं। आस्ट्रेलिया के पेज नगर में एक शान्तिवादी सम्मेलन में राजेन्द्र बाबू ने अहिंसात्मक प्रतिरोध के विषय में भारतीय दृष्टिकोण रखना चाहा; परन्तु फासिस्ट गुण्डों ने सम्मेलन की बैठक में मार-पीट मचा दी, जिसमें राजेन्द्र बाबूको गहरी चोटें आईं।

राजेन्द्रबाबू महान् संघटनकर्ता है। संघटन करने की उनकी शक्ति की परीक्षा बिहार-भूकम्प के समय में हुई। कारागार में जब आप अत्यधिक अस्वस्थ हो गए तो उपचार करने के लिए मुक्त कर दिए गए। भूकम्प ने बिहार को ध्वस्त कर डाला था। पीड़ितों के करुण क्रन्दनों से आप विच-लित हो उठे और अपने गिरे हुए स्वास्थ्य की ओर बिना ध्यान दिये हुए ही तन-मन-धन से सहायता-कार्य में जुट गए और भूकम्प-पीड़ितों की जो अनु-पम सेवा की, उसकी सारे देश में प्रशंसा हुई। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने

अपनी आत्मकथा मे राजेन्द्रबाबू के विषय में लिखा है—"देखने मे वे असली बिहारी किसान जान पड़ते है और जब तक उनकी सरलतापूर्ण आँखों और ईमानदारी से भरे हुए चेहरे पर ध्यान न दीजिए तब तक पहली बार की मुलाकात में वे प्रभावित नही करते। कोई भी व्यक्ति उनकी आँख और चेहरे को नहीं भूल सकता। उनसे होकर सत्य झाँकता है, इसमे सन्देह का स्थान नही। आधुनिक दुनियादारी के हिसाब से वह एक देहाती, कुछ सकुचित दृष्टिकोण वाले प्रतीत होते है, परन्तु उनकी असाधारण प्रतिभा, उनकी निश्छल बात, उनकी कर्मठता और भारतीय स्वतन्त्रता के प्रति उनकी लगन ऐसे गुण है, जिनके कारण केवल उनके प्रान्त मे ही नहीं, बल्कि समस्त देश मे लोग उनका सम्मान करते है। किसी भी राज्य में किसी को नेतृत्व का ऐसा भारी गौरव नही प्राप्त है, जैसा कि बिहार मे राजेन्द्र बाबू को मिला है। राजेन्द्रबाबू के अतिरिक्त ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति है, जिनके बारे में यह कहा जा सकता है कि गाँधी जी के सन्देश को उन्होंने पूर्ण रूप से अपनाया है।"

डा० राजेन्द्रप्रसाद बहुत अच्छे साथी हैं। उनके साथ रहकर आप सदैव ईमानदारी से भरी सहायता और सहयोग प्राप्त कर सकते हैं। उनके मुख पर कुछ ऐसी आध्यात्मिक क्रान्ति है जो प्रेरणा और सहायता प्रदान करती है। वह कभी भी पदों के इच्छुक नहीं रहे, परन्तु ऊँचे पद उनके चरणों पर गिरते है और वे कर्त्तव्य समझकर उनको सँभालते हैं। वे अत्यन्त उदार-हृदय और क्षमाशील हैं और विश्वास की ज्योति सदैव उनके हृदय में जलती रहती है। उनके स्वभाव में उष्णता और तीक्ष्णता का नाम एवं निशान नहीं। उन्होंने अपने गुरु महात्मा गाँधी का पूर्ण रूप से अनुसरण किया है और जब कभी उनसे मतभेद भी हुआ तब भी राजेन्द्र बाबू ने उनकी बात को स्वीकार किया, क्योंकि आप को यह विश्वास था कि बापू को गलती न करने की आदत है। आपने अपनी आत्मकथा मे लिखा है कि "मुझे विश्वास हो गया था कि बापू बहुत ही दूरदर्शी हैं। इसलिये मैंने अपने दृष्टिकोण को

उनके सामने रखना नियम बना लिया है और यदि उन्होने उसको मान लिया तो ठीक ही है अन्यथा मै ही उनकी सलाह को स्वीकार कर लेता हूँ ।"

डा० राजेन्द्र प्रसाद आज अपना ६५वाँ वर्ष पूरा कर चुके है । स्वर्गीया श्रीमती नायडू ने डा० प्रसाद के विषय में लिखा था कि "बाबू राजेन्द्रप्रसाद के भव्य व्यक्तित्व के बारे मे स्वर्ण लेखनी को मधु मे डुबोकर लिखना होगा । उनकी असाधारण प्रतिभा उनके स्वभाव का अनोखा माधुर्य, उनके चरित्र की विशालता और आत्म-त्याग के महान् गुणों ने सम्भवत उन्हे हमारे सभी नेताओं से अधिक व्यापक और व्यक्तिगत रूप से प्रिय बना दिया है । सच्ची श्रद्धाञ्जलि के रूप मे मैं इससे अधिक क्या कह सकती हूँ कि गाँधी जी के निकटतम शिष्यो मे उनका वही स्थान है, जो ईसा मसीह के निकट सेंट जान का था ।"

आत्मकथा

मेरा ग्राम्य-जीवन

उन दिनों गाँव का जीवन आज से भी कहीं अधिक सादा था । जीरादेई और जामापुर दो गाँव हैं, पर दोनों की बस्ती इस प्रकार मिली-जुली है कि यह कहना कठिन है कि कहाँ जीरादेई खतम है और कहाँ से जमापुर शुरू है । इसलिये बस्ती के विचार से दोनो गाँवों को साथ भी लिया जाय तो कोई हर्ज नही । दोनो गाँवों में प्रायः सभी जातियों के लोग बसते हैं । जनसंख्या दो सहस्र से अधिक होगी, उन दिनो भी गाँव मे मिलनेवाली प्राय सभी वस्तुएँ वहाँ मिलती थी । अब तो कुछ नये प्रकार की दूकानें भी हो गई है, जिनमे पान-बीडी भी बिकती है । उन दिनो ऐसी वस्तुएँ नहीं मिलती थी, यद्यपि कलाल तम्बाकू और खैनी बिका करती थी । कपड़े की दूकानें अच्छी थी, जहाँ से दूसरे गाँवों के लोग और कुछ बाहर के व्यापारी भी कपड़े ले जाया

करते थे । चाँवल, दाल, आटा, मसाला, नमक, तेल इत्यादि वहाँ सब कुछ बिकता था और छोटी-मोटी दूकान दवा की भी थी, जिसमें हर्रे-बहेरा-पीपर इत्यादि की तरह की वस्तुएँ मिल सकती थी । जहाँ तक मुझे स्मरण है, केवल मिठाई की कोई दूकान नही थी । गाँव मे कोयरी लोगों की बस्ती अधिक है, इसलिये साग-सब्जी भी अधिक मिलती थी । अहीर कम थे, पर आस-पास के गाँवो मे उनकी जनसख्या अधिक है, इसलिये दही—दूध भी भी मिलते थे । चर्खे बहुत चलते थे । गाँव मे जुलाहों की भी बस्ती थी, जो सूत लेकर बुन दिया करते थे । चुड़िहार चूड़ियाँ बना लेते । बिसाती छोटी-मोटी चीजे, जैसे टिकुली इत्यादि, बाहर से लाकर बेचते और कुछ स्वय भी बनाते । मुसलमानों में चुडिहार, बिसाती, थवई (राज) दर्जी और जुलाहे ही थे । कोई शेख-सैयद नही रहता था । हिन्दुओ मे ब्राह्मण, राजपूत, भूमिहार, कायस्थ, कोयरी, कुरमी, कमकर, तुरहा, गोड़, डोम, चमार, दुसाध इत्यादि सभी जाति के लोग बसते थे । मेरा विचार है कि सबसे अधिक बस्ती राजपूतो की ही है । उनमे कुछ तो जमीन्दार-वर्ग के है, जो पुराने खानदानी समझे जाते है और कुछ साधारण किसान-वर्ग के है । कायस्थ जीरादेई में ही पाँच घर थे, जिनमें तीन तो हमारे सगे थे और दो सम्बन्ध के कारण बाहर से आकर बस गए थे ।

सब कुछ प्राय: गाँव मे ही मिल जाता था । इसलिये गाँव के बाहर जाने का लोगों को बहुत कम अवसर मिलता था । गाँव में सप्ताह में दो बार बाजार भी लगता था, जहाँ कुछ आस-पास के गाँव के दूकानदार भी अपना-अपना माल-सौदा सिर पर अथवा बैल, घोड़ा या बैलगाडी पर लादकर लाते थे । बाजार मे मिठाई की दूकान भी आ जाती थी और जो चाहते उनको मछली-माँस भी खरीदने को मिल जाते । जिनकी आवश्यकताएँ इस प्रकार पूरी न होती, वे 'सीवान' जाते । वहीं थाना और मजिस्ट्रेट है—कचहरियाँ है और दूकाने भी है । वह एक कस्बा है जो देहात के लोगों के लिये उन दिनों

बहुत बड़ी जगह की प्रतिष्ठा रखता था। मुझे स्मरण है कि गाँव में बाहर से सगे-सम्बन्धियों के अतिरिक्त बहुत कम लोग आया करते थे। मौलवी साहब के यहाँ दो-चार महीने में एक बार एक आदमी फारसी की छोटी-मोटी पुस्तकों की एक छोटी गठरी और दो-एक बोतलों में सियाही (आजकल की ब्लूब्लैक रोशनाई नहीं) लिये आ जाता था। जब वह आता तो हम बच्चों के कौतूहल का ठिकाना न रहता। कभी-कभी जाड़ों में कोई नारंगी-नीबू की टोकरी लिये बेचने आ जाता तो हम बच्चे इतना प्रसन्न होते कि मानों कुछ अच्छी वस्तु मिल गई। एक दिन ऐसा ही एक व्यक्ति आया और मैं दौड़कर माँ से कहने गया। वहाँ से दौड़कर जो बाहर आ रहा था कि पैर में जोर से किसी वस्तु की ठोकर लगी, गिर गया। ओठ में चोट आई और रक्त बहने लगा। बहुत दिनों तक उसका चिन्ह था। एकबार और किसी चीज के लिये दौड़ता हुआ गिर गया था। उसका चिन्ह तो आज तक दाहिनी आँख के नीचे गाल पर वर्तमान है। गाँव में फल—आम और साधारण रूप से कभी-कभी बाग से केले—मिल जाते थे। चचा साहब जिनको हमलोग नूनू कहा करते थे, छपरे से कभी-कभी अंगूर लाया करते थे। अंगूर आज की तरह खुलेआम गुच्छों में नही बिका करते थे और दाम भी बहुत लगता था। गाँव के लोग केवल आम और केले ही ऋतु में पाते थे।

गाँव मे दो छोटे-छोटे मठ है, जिनमे एक-एक साधु रहा करते थे। गाँव के लोग उनको भोजन देते है और वह प्रातः-सायं घंटी-घटा बजाकर आरती करते है। आरती के समय कुछ लोग जुट भी जाते है। कभी-कभी हमलोग भी जाया करते थे और बाबा जी तुलसीदल का प्रसाद दिया करते थे। रामनौमी और विशेषकर जन्माष्टमी में मठ में तैयारी होती थी। हम सब कच्चे कागज और पत्ती के फूल काटकर ठाकुरबारी के दरवाजों और सिहासन पर साटते थे और उत्सव में सम्मिलित होते थे, व्रत रखते थे और दधिकाँदो के दिन खूब दही-हल्दी एक दूसरे पर डालते थे। प्रायः हर वर्ष कार्तिक में

कोई न कोई पंडित आ जाते, जो एक-डेढ़ महीना रहकर रामायण, भागवत अथवा किसी दूसरे पुराण की कथा सुनाते थे। जिस दिन पूर्णाहुति होती थी उस दिन गाँव के सब लोग इकट्ठे होते और कुछ-कुछ पूजा चढ़ाते। मेरे घर से अधिक पूजा चढ़ती, क्योंकि हम सबमे बड़े समझे जाते थे। प्रायः कथा तो मेरे ही द्वार पर हुआ करती थी। उसका सारा व्यय हमको ही देना पड़ता था। जब गाँव में पंचायती कथा होती तब गाँव-भर के लोग बारी-बारी से पंडित के भोजन का सामान पहुँचाते, उसमें मेरा घर भी सम्मिलित रहता। हम बच्चे तो कदाचित् ही कथा का कुछ अधिक अंश सुन पाते हों, क्योंकि मैं तो सन्ध्या होने के पश्चात् ही सो जाता। पर जब आरती होती तो लोग जगाते और प्रसादी खिला देते।

मनोरंजन और शिक्षा का एक दूसरा साधन रामलीला थी। वह आश्विन में हुआ करती थी। रामलीला करनेवाली संस्था कहीं से आ जाती और पन्द्रह-बीस दिनों तक खूब चहल-पहल रहती। लीला कभी जमापुर में होती, कभी जीरादेई में। लीला भी विचित्र होती। उसमें राम-लक्ष्मण इत्यादि जो बनते, कुछ पढ़े-लिखे नहीं होते। एक आदमी तुलसीदास की रामायण हाथ में लेकर कहता—'रामजी कहीं, हे सीता'——इत्यादि और रामजी वही दुहराते। इसी प्रकार, जिनको जो कुछ कहना होता उनको बताया जाता है और वह पीछे-पीछे उसे दुहराते जाते। लोगों का मनोरंजन इस वार्तालाप मे अधिक नही होना, क्योंकि भीड बड़ी लगती और सब कारबार प्रायः १००—२०० गज मे फैला रहता। मनोरंजन तो पात्रों की दौड़-धूप और विशेषकर लड़ाई इत्यादि के नाट्य मे ही होता। उत्तर में रामजी का गढ़ और दक्षिण में रावण का गढ़ बनता अथवा अयोध्या और जनकपुर बनता। जिस दिन जो कथा होती उसका कुछ न कुछ स्वांग तो होता ही। सबसे बड़ी तैयारी राम विवाह, लंकाकाण्ड के युद्ध और रामजी के अभिषेक —गद्दी पर बैठने के दिन होता। विवाह में तो हाथी-घोड़े मँगाए जाते और बरात की पूरी सजावट होती। लङ्कादहन के लिये छोटे-मोटे मकान भी

बना दिए जाते जो सचमुच जला दिए जाते । हनुमान् बानर और निशा-चरों के अलग अलग चेहरे होते, जो उनको समय पर पहनने पड़ते और हम बच्चों को सचमुच वे डरावने लगते । बानरों के कपड़े प्राय: लाल होते और उनके सिंगार में प्राय: डेढ़-दो घण्टे लग जाते । लीला सन्ध्या समय ४ बजे से ६ बजे तक होती । राम-लक्ष्मण, साधारण लोगों की तरह नहीं चलते । उनके डग बहुत ऊँचे उठते और लड़ाई में पैंतरे देने की तो उनको विशेष शिक्षा दी जाती । जिस दिन राजगद्दी होती उसी दिन गाँव जवार के लोग पूजा चढ़ाते, जो भेंट के रूप में रामजी के चरणों पर चढ़ाई जाती । लीला वालों को भोजन के अतिरिक्त नगद जो कुछ मिलता होता उसी दिन मिल जाता । दूसरे दिन फिर राम-लक्ष्मण जानकी को शृंगार करके बड़े-बड़े लोगों के घरों में ले जाते, जहाँ की स्त्रियाँ परदे के कारण भीड़-भाड़ में लीला देखने नहीं जाया करती । वहाँ उनकी पूजा होती और उनपर रुपये चढ़ाए जाते ।

. .

एक चीज, जिसका प्रभाव मुझ पर बचपन से ही पड़ा है, रामायण-पाठ है । गाँव में अक्षर-ज्ञान तो थोड़े ही लोगों को था । उन दिनों एक भी प्राइमरी या दूसरे प्रकार का स्कूल उस गाँव अथवा कहीं जवार-भर में नहीं था । मौलवी साहब हम लोगों को तीन-चार रुपये मासिक और भोजन पाकर पढ़ाते थे । गाँव में एक दूसरे मुसलमान थे, जो जाति के जुलाहे थे । मगर कैथी लिखना जानते थे, मुड़कटी हिसाब भी जानते थे, जिसमें पहाड़ा, ड्योढ़ा इत्यादि मन-सेर की ठिकरी और खेत की पैमाइश का हिसाब सम्मिलित है । उन्होंने एक पाठशाला खोल रक्खी थी, जिसमें गाँव के कुछ लड़के पढ़ते थे । अक्षर पहचानना तो बहुत थोड़े लोग जानते, पर प्राय: प्रतिदिन सन्ध्या के समय कुछ लोग कहीं न कहीं, मठ में या किसी के दरवाजे पर, जमा हो जाते और एक आदमी रामायण की पुस्तक से

चौपाई बोलता और दूसरे सब उसे दुहराते। साथ में झाँझ और ढोलक भी बजाते थे। वन्दना का भाग तो जब रामायण का पाठ प्रारम्भ होता, अवश्य दुहराया जाता। इस प्रकार अक्षर से अपरिचित रहकर भी गाँव में ऐसे बहुतेरे लोग थे, जो रामायण की चौपाइयाँ जानते और दुहरा सकते और विशेषकर के वन्दना के कुछ दोहों को तो सभी प्राय: कण्ठस्थ रखते थे।

त्योहारों में सब से प्रसिद्ध होली है। उसमें अमीर-गरीब सभी सम्मिलित होते थे। बसन्तपंचमी के दिन से ही होली गाना आरम्भ होता। उसे गाँव की भाषा में 'ताल उठना' कहते थे। उस दिन से होली के दिन तक जहाँ-तहाँ झाल-ढोलक के साथ कुछ मनुष्य एकत्र होते और होली गाते। कभी-कभी जीरादेई और जमापुर के लोगों में सामना हो जाता और एक गीत एक गाँव के लोग जैसे समाप्त करते, दूसरे गाँव के लोग दूसरा आरम्भ करते। कभी-कभी गाँव के आस-पास के दूसरे गाँवों के लोग भी गोल बाँधकर आ जाते और इस प्रकार का मीठा प्रतियोग बड़े उत्साह से हुआ करता। मुझे स्मरण है कि एक बार दो गाँवों में बाजी-सी लग गई और रात-भर गाते-गाते सबेरे सूर्योदय के बाद तक लोग गाते ही रह गए, और तब उनको कहकर हटाया गया। इस गाने में जो आदमी ढोलक बजाता है, उसे अधिक मेहनत पड़ती है और वह पसीने-पसीने हो जाता है। एक गाँव में ढोलक बजानेवाला एक ही आदमी था। वह सारी रात बजाता रह गया। उसके हाथों में छाले पड़ गए, पर वह कहाँ रुकनेवाला था, गाँव की इज्जत चली जाती! छाले उठे और फूट गए और इस प्रकार रात में कई बार छाले उठे और फूटे पर उसने गाँव की इज्जत नहीं जाने दी। यह बात दूसरे दिन प्रतियोगिता समाप्त होने पर ज्ञात हुई और सब लोगों ने उसके साहस की सराहना की।

होली के दिन बहुत गन्दा गाली-गलौज हुआ करता। उसमें बूढे और जवान और लड़के एक साथ सम्मिलित होते। गाँव के एक कोने से एक गिरोह चलता जो प्रायः हर दरवाजे पर खड़ा होकर नाम ले-लेकर गालियाँ गाता और गन्दी मिट्टी, धूल और कीचड एक दूसरे पर डालता गाँव के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चला जाता। यही एक अवसर था, जब बडे-छोटे का लिहाज अचानक उठ जाता था। बड़े-छोटे केवल उम्र में ही नही, जाति और वर्ग की बडाई-छोटाई भी उठ जाती थी। चमार, ब्राह्मण और राजपूत एक दूसरे को गालियाँ सुनाते और एक दूसरे पर कीचड फेंकते। जब कोई नया आदमी साफ-सुथरा मिल जाता तो उसकी जान नही बचती, मानो उसे भी कीचड़ लगा कर जाति मे मिला लेना अपना कर्त्तव्य समझते थे। यह धुरखेल दोपहर तक जारी रहता। उसके बाद सभी स्नान करते और घर-घर मे पूजा होती। उस दिन का विशेष भोजन पूरी-मालपुआ है। गरीब लोग भी किसी न किसी प्रकार कुछ प्रबन्ध कर ही लेते है। भोजन के बाद दोपहर को गुलाल और अबीर से रग खेला जाता। सब लोग सफेद कपडे पहनते। उस पर लाल-पीले रंग डाले जाते, अबीर और अबरख का चूर्ण छिड़का जाता। गरी-छुहारा, पान-कसैली बाँटी जाती और खूब होली गाई जाती।

मैने सुना है कि और जगहों में लोग उस दिन शराब-कबाब का भी व्यवहार किया करते हैं, पर सौभाग्य से मैंने अपने गाँव में यह कभी नहीं देखा। राजपूत, ब्राह्मण, भूमिहार तो हमारे यहाँ शराब पीना पाप मानते हैं, कही-कहीं कायस्थ लोग पीते हैं, पर मेरे घर में एक बहुत पुरानी प्रथा चली आ रही है। लोगों का विश्वास है कि हमारे वंश में जो शराब पिएगा वह कोढ़ी हो जाएगा। इसलिये वहाँ कायस्थो के घरों मे भी शराब नहीं आई। बड़ों को देख कर छोटे भी इससे परहेज करते हैं और यह बात आज तक जारी है।

जन्माष्टमी, रामनवमी की चर्चा कर ही दी है; दिवाली भी अच्छी

मनाई जाती थी। कुछ पहले ही से लोग अपने-अपने घरों को साफ करते। दीवारों को लीपते और काठ के खम्भों और दरवाजों मे तेल लगाते। उन दिनों मिट्टी का तेल नही जलाया जाता था—कदाचित् मिलता ही नहीं था। सरसो, तीसी, दाना अथवा रेंड़ी का ही तेल जलाया जाता था। दीवाली में मिट्टी के छोटे-छोटे दिये जलाकर प्रायः अमीर-गरीब सब कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य करते। बड़े लोगों के मकान पर बहुत दिये जलाए जाते, केले के खम्भे गाड़े जाते, बाँस की मेहराबे बनाई जाती, रंग-बिरंग की तसवीरे दियों से बनाई जाती, जो देखने में बहुत सुन्दर मालूम पड़ती, बड़े लोग तो नकशे बनाते और हम छोटे उनके बताए हुए स्थानों पर दिये रखते, तेल डालते, बत्ती जलाते। बत्ती जल जाने के पहले लक्ष्मी-पूजा होती। लक्ष्मीजी तथा तुलसी के पास बत्ती जलाने के बाद और सब जगहों मे दिये जलाए जाते। दिये जल जाने के बाद कौड़ी खेलने की चाल थी। हम लोग तो नाममात्र के लिये कुछ कर लेते, पर मैंने देखा है कि कुछ लोग पैसे हारते-जीतते भी थे। दीवाली के दिन विशेष दीप की तैयारी होती, पर यों तो कातिक भर कुछ लोग तुलसी-चौतरे पर और आकाश मे कन्डील लटका कर दिये जलाया करते।

दशहरा तो विशेष रूप से जमीन्दारो का त्योहार माना जाता था पर नवरात्र मे कभी-कभी कालीजी की पूजा हुआ करती थी, जिसके लिये मूर्ति लाई जाती और बड़े धूमधाम से पूजा होती। मैंने अपने गाँव मे तो काली-पूजा नही देखी, पर जवार में काली पूजा हुई, इसकी प्रसिद्धि सुनने पर हम बच्चे वहाँ दर्शन के लिये भेजे गए थे। वहाँ जाकर हमने काली का, जो सच-मुच काली थीं और हाथ मे लाल खप्पर और खड्ग लिए हुए थी, दर्शन किया था। रामलीला मे राजगद्दी और प्रायः दशहरे के दिन हमारे दादा साहब अपने साथ सब लोगों को लेकर एक छोटा-सा जलूस बनाकर निकलते और नीलकण्ठ का दर्शन करते।

इनके अतिरिक्त एक और त्यौहार था जिसमें सभी लोग सम्मिलित होते थे। वह था अनन्त चतुर्दशी का व्रत। यह भादों सुदी चतुर्दशी को हुआ करता था। दोपहर तक का ही व्रत था। दोपहर को कथा सुनने के बाद पूरी-खीर खाने की प्रथा थी और सन्ध्या को खाना कुछ नही होता था। सूर्यास्त के बाद पानी भी नही पिया जाता था। इस व्रत में हम सब बच्चे भी सम्मिलित होते। कथा समाप्त होने पर एक क्रिया होती जो बच्चों के लिये बहुत हँसी की वस्तु होती। एक बड़े थाल मे एक या दो खीरे रख दिए जाते और थोड़ा जल उसमे पंडित डाल देते। सभी कथा सुननेवाले उस थाल मे हाथ डालते और पंडित पूछते—'क्या ढूँढते हो' और लोग उत्तर देते—'अनन्त फल'। तब फिर पडित पूछते 'पाया' और उत्तर मिलता—'पाया'। पडित कहते, 'सिरपर चढ़ाओ' और सब लोग जल अपने सिर पर छिड़कते। यह क्रिया समाप्त होने पर सभी लोगों को अनन्त, जो सूत में चौदह गाँठ देकर बनाया जाता था, दिया जाता और वे उसे अपनी बाँह पर बाँध लेते। हम बच्चों के लिये सुन्दर रगीन, कभी-कभी रेशम का, अनन्त पटहरे के यहाँ से खरीद करके आता। कोई-कोई साल-भर बाँह पर अनन्त बाँधे रहते थे, इसलिये वे अपना अनन्त अपने हाथों मजबूत और काफी लम्बा बनाते जिसमे वह सुभीते से बाँधा जा सके। इस प्रकार जो अनन्त बाँधता वह माँस-मछली नहीं खाता था। इसी प्रकार जो तुलसी की लकड़ी की माला या कण्ठी पहनता, वह भी माँस या मछली नहीं खाता।

कथा, रामलीला, रामायण-पाठ और इन व्रत-त्योहारों द्वारा गाँव में धार्मिक-जीवन सदैव जगा रहता था। इनके अतिरिक्त मुहर्रम में ताजिया रखने की भी प्रथा थी। इसमे हिन्दू और मुसलमान दोनो ही सम्मिलित हुआ करते थे। जीरादेई और जमापुर मे कुछ हिन्दू ही कुछ सम्पन्न थे, इसलिये उनका ताजिया गरीब मुसलमानों के ताजिया से अधिक बड़ा और

शानदार हुआ करता था। मुहर्रम-भर प्रायः रोज गदका, लाठी, फरी इत्यादि के खेल लोग करते और चहलम के दिन तो बहुत बड़ी भीड़ होती। गाँव-गाँव के ताजिया कर्बला तक पहुँचाए जाते। सारे रास्ते में 'या अली, या इमाम' के नारे लगाए जाते और गदका इत्यादि के खेल होते। बड़ा उत्साह रहता और इसमें हिन्दू-मुसलमान का कोई भेद नहीं रहता। शीरनी और तिनौरी (भिगोया हुआ चावल और गुड़) बाँटी जाती। सभी उसे लेते और खाते, पर हिन्दू लोग मुसलमानों से पानी या शर्बत छुआ कर नहीं पीते। मुसलमान भी इसे बुरा नहीं मानते। वे समझते थे यह हिन्दुओं का धर्म है, इसलिये वे स्वयं हट जाते।

जिस तरह हिन्दू मुहर्रम में सम्मिलित होते, उसी तरह मुसलमान भी होली के शोरगुल में सम्मिलित होते। हम बच्चे दशहरा, दीवाली और होली के दिन मौलवी साहब की बनाई 'ईदी' अपने बड़ों को पढकर सुनाते और उनसे रुपया माँगकर मौलवी साहब को देते। ईदी कई दिन पहले से ही हम याद करते। कागज पर, मौलवी साहब की सहायता से, सुन्दर फूल बनाकर उसे लाल, हरे, नीले और बैगनी रंगो मे रगते। उसी पर मौलवी साहब सुन्दर अक्षरों में 'ईदी' लिख देते, जिसे हम लोग पढ़कर सुनाते। उसमे जो कुछ लिखा जाता वह कुछ अद्भुत सम्मिश्रण होता। जैसे, दीवाली की ईदी में लिखा होता—'दीवाले आमदे हंगाम जूला' इत्यादि; दशहरे की ईदी मे लिखा जाता—'दशहरे को चले थे रामचन्दर, बनाकर रूप जोगी वो कलन्दर' इत्यादि। मुशायरे के अतिरिक्त मौलवी साहब को प्रत्येक बृहस्पतिवार को कुछ पैसे जुमराती के रूप मे और त्योहारों पर ईदी के बदले मे कुछ मिल जाया करता था।

उन दिनों गाँव में मामला मुकदमा कम हुआ करता था। जो झगडे हुआ करते थे, गाँव के पच लोग उन्हें तय कर देते थे। अगर कोई बात पचों के मान की न हुई, तो वह मेरे बाबा या चचा साहब के सामने पेश होती। वे

लोग भी पंचायत में सम्मिलित होकर तय करा देते । हाँ, कभी-कभी चोरी हो जाया करती थी । बनिया कुछ सम्पन्न थे । उनके घरों मे रात को सेंध फोड़कर चोर कुछ पैसे उठा ले जाया करते । एक बार का मुझे स्मरण है कि दूसरे गाँव के बाजार से लौटते समय सन्ध्या को रास्ते मे डाकू ने कपड़े और पैसे लूट लिए थे । जब कभी ऐसी घटना होती, थाने से सिपाही और दारोगा पहुँचते और गाँव मे एक-दो दिन ठहर जाते । उनके गाँव में आने पर आतंक छा जाता । सारे गाँव मे सनसनी फैल जाती । जिन लोगों पर सन्देह होता, उनके घर की तलाशी ली जाती । दो-तीन आदमी थे, जिनके बारे में प्रसिद्ध था कि वे चोर है, दारोगा पहुँचते ही उनको पकड़ कर मुश्कें कस कर बाँध कर गिरा देते और खूब पीटते । आस-पास के गाँव के भी ऐसे लोग, जो गलत या सही चोर समझे जाते थे, इस प्रकार पकड़ कर मँगाए जाते थे, और बाँध कर गिरा दिए जाते । मैंने देखा है कि इस तरह एक साथ पाँच-सात आदमी बाँध कर गिराए जाते थे और घण्टों तक पड़े रहते थे ।

हम लोगों की छोटी-सी जमीन्दारी थी । प्रजा के साथ मुकदमे तो कम होते, कदाचित् ही कभी कचहरी मे जाने की आवश्यकता पड़ती । परन्तु एक दूसरे जमीन्दार के साथ, जिनका भी हिस्सा एक गाँव में था, बहुत दिनों तक कुछ जमीन के लिये मुकदमा चलता रहा । वह बाबा के समय से आरम्भ होकर पिता के समय तक चलता रहा और उनकी मृत्यु के पश्चात् भाई ने सन्धि करके उसे तय किया । नूनू छपरा जाया करते और भाई जो छपरा पढने के लिये भेज दिए गए थे, उनको देखते और मुकदमे की भी पैरवी करते ।

मेरी योरप-यात्रा

यह मेरी पहली विदेश-यात्रा थी। मित्रों की सलाह से मैंने सर्दी के लिये गर्म कपड़े बनवाए। मैं बराबर केवल खादी ही पहना करता था। वहाँ जाकर भी इस नियम को भंग करना मैंने उचित न समझा। इसलिये कश्मीरी ऊन के कपड़े ही खादी-भंडार-द्वारा मँगाकर बनवाए। कपडे की काट-छाँट भी देशी रखी। अंगरेज़ी पोशाक न पहिनने का ही निश्चय कर लिया। फलस्वरूप दो बातें हुईं। बहुत कम खर्च में काम के लायक काफी कपड़े तैयार हो गए। पोशाक हिन्दुस्तानी थी, इसलिये उसमें कुछ भूल अथवा भद्दापन भी हो, तो कोई विदेशी समझ नहीं सकता था। अंगरेजी पोशाक और रहन-सहन धारण करने पर उन लोगों के फैशन और रीति-नीति के अनुसार ही चलना-फिरना, कपडा पहनना और खाना-पीना पडता है। अपना रहन-सहन कायम रखने से यह सब झंझट दूर हो जाते हैं। विशेषकर मुझ जैसे आदमी के लिये यह झझट कुछ कम नहीं है; क्योंकि मैंने कभी जीवन-भर में कपड़े और फैशन पर ध्यान ही नहीं दिया है। हमने कपड़े को शरीर गर्म रखने और लज्जा-निवारण का साधनमात्र समझा है।

अपने देश में भी मैं उन लोगों के विशेश सम्पर्क में नहीं पड़ा, जो विदेशी ढंग से रहते और खाते-पीते हैं। जाने से पहले एक दिन श्रीसच्चिदानन्दसिंह ने मुझे अपने यहाँ अंगरेजी ढंग से टेबुल पर खिलाया था। वहाँ मैंने काँटा-चमचे का इस्तेमाल देख लिया था। संयोग से जहाज पर मेरे कमरे में एक पारसी सज्जन थे, जो विदेश से सैर करने के लिये ही जा रहे थे। उनसे तो जान-पहचान हो ही गई, पर दूसरा कोई परिचित जहाज में नहीं था। मैं स्वतः किसी से जान-पहचान करने में बहुत सकुचाता हूँ। इसलिये दो-एक दिन जहाज के किसी यात्री से मेरा परिचय नहीं हुआ। पर इतना मैं देखता था कि मेरी हिन्दुस्तानी पोशाक की ओर बहुतों की आँखें जाती थी

में डेक पर कुर्सी रखकर कुछ पुस्तकें पढ़ता अथवा टहलता रहता समुद्र शान्त था अतएव किसी किस्म की मतली या चक्कर ने मुझे नहीं सताया।

दो दिनों के बाद एक अंग्रेज सज्जन, जो इण्डियन मेडिकल सर्विस से पेन्शन पा चुके थे, मेरे निकट आए। वे मुझसे बातें करने लगे। मेरे खद्दर के कपड़ो और एकान्त मे चुप बैठे रहने से उनकी पत्नी का ध्यान आकर्षित हुआ था। दोनों प्राणी बहुत ही अच्छे मिजाज के थे। वे गाँधीजी के सम्बन्ध मे कुछ जानते थे। खद्दर के सम्बन्ध मे भी कुछ अखबारो मे पढा था। इच्छा रहने पर भी हिन्दुस्थान में गाँधी जी से भेंट करने का सुअवसर उन्हें नही मिला। जब बातचीत से उन्हे मालूम हुआ कि गाँधी जी के साथ मेरा कैसा सम्बन्ध है, तब उनकी दिलचस्पी और भी बढ़ गई। उनको यह जानकर कौतूहल हुआ कि मै माँसाहारी नही हूँ। वे स्वयं भी माँसाहारी नहीं थे। यह कहकर उन्होने मुझे चकित कर दिया कि हिन्दुस्तान में शाकाहारी होकर रहना बहुत कठिन है, क्योंकि शाकाहारी के उपयुक्त खाद्य पदार्थ यहाँ बहुत कम मिलते है। उन्होंने मुझे बतलाया कि इगलैण्ड और तमाम योरप मे ऐसे बहुतेरे रेस्तराँ है जिनमे शाकाहारी भोजन मिल सकता है। वहाँ सब्जी बहुतायत से मिल सकती है—दूध और दूध से बने हुए बहुत तरह के खाद्य-पदार्थ मिल सकते हैं। पर वहाँ के लोग पक्के शाकाहारी हैं, वे दूध और दूध से बने पदार्थ नही खाते, क्योंकि दूध को जानवर के ख़ून का एक परिवर्तित रूप ही मानते है।

रास्ते में मुझे ज्ञात हुआ कि जब तक जहाज स्वेज नहर से गुजरता है, तब तक टामस-कुक-कम्पनी की ओर से ऐसा प्रबन्ध रहता है कि जो मुसाफिर चाहे, मोटर-द्वारा जाकर कैरो नगर और उससे थोड़ी दूरी पर स्फिक्स को देख आ सकता है। मैंने यह देख आना अच्छा समझा। मेरे साथ कुछ और मुसाफिरों ने भी टामस-कुक के साथ वहाँ जाने का प्रबन्ध कर लिया। हम

लोग सबेरे पाँच बजे जहाज से उतरकर मोटर पर कैरो चले गए। कैरो पहुँचने पर मुँह-हाथ धोने और नाश्ता करने के लिये हम एक होटल मे ले जाए गए। फिर हम कैरो का अजायबघर देखने गए। वहाँ पिरामिडों की खुदाई से निकली चीजें सुरक्षित है। संग्रहालय बहुत सुन्दर है। प्राचीन मिस्र के कितने बड़े नामी और प्रतापी बादशाहों के शव (ममी), जो पिरामिडों से निकले है, वहाँ सुरक्षित है। अब देखने मे वे काले पड गए हैं, पर चेहरा और हाथ-पैर ज्यो-के-त्यों है। वे जिस महीन कपड़े में लपेट कर गाडे गए थे, वह कपड़ा भी अभी तक वैसा ही लिपटा हुआ है। वह कपडा बहुत ही बारीक हुआ करता था। कहते है, वह भारतवर्ष से ही जाया करता था। उन दिनों यहाँ के निवासियों का विश्वास था कि आराम के सभी सामान यदि मुर्दे के साथ गाड़ दिए जाएँ तो, परलोक में भी उनसे वह आराम पा सकता है। इसी विश्वास के अनुसार, पिरामिडो के अन्दर, शव के साथ, सभी आवश्यक वस्तुएँ गाडी जाती थीं---पहनने के कपड़े और गहने, बैठने के लिये चौकी इत्यादि, खाने के लिये अन्न, शृङ्गार के सामान, सवारी के लिये रथ और नाव भी। वे सब चीजें एक-से-एक अच्छी बनी है। उनसे ज्ञात होता है कि उस समय भी लोग सोने का व्यवहार जानते थे।

सुना है कि इसी प्रकार की खुदाई से मोहेन-जोदडो (सिन्ध) मे जो गेहूँ निकला है, वह बो देने पर उग गया। जादूघर के संग्रह और विशेषकर प्रतापी राजाओ के शव देखकर मनुष्य के जीवन की अनित्यता साफ-साफ दीखने लगी। ऐसे दृश्य देखकर यह मालूम होने लगता है कि हम जो कुछ अपने बड़प्पन के मद मे करते है, वह सब कितना तुच्छ और अस्थायी है। जिन बादशाहो के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने अपने जमाने मे बहुत जुल्म किया था, उनके शव उसी तरह आज भी पड़े है। जो वहाँ का इतिहास नही पढता, उसे उनके नाम तक मालूम नही है। यद्यपि अजायबघर का सफर

मनोरंजक रहा, तथापि मेरे दिल पर क्षणभंगुर जीवन की असारता का गहरा असर पड़ा। मै वहाँ से उदास ही निकला।

म्यूजियम के बाद हम लोगों को शहर की कुछ प्राचीन और प्रसिद्ध इमारते दिखाई गईं जिनमें एक प्रसिद्ध मसजिद भी थी। मिस्र मे मुसलमान पूरब रुख मुँह करके नमाज पढ़ते है, क्योंकि वहाँ से काबा पूरब पड़ता है। यह हिन्दुस्तानी के लिये कुछ अजीब-सा लगता है। वहाँ की मसजिदे भी इसी कारण पच्छिम रुख की होती है। वहाँ की भाषा अरबी है। योरपीय भाषाओं में सबसे अधिक प्रचार वहाँ फ्रेन्च का है। लोग साफ-सुथरे थे। पुलिसवाले तुर्की फेज पहने हुए थे। कैरो यद्यपि पुराना शहर है, पर जिस हिस्से को हमने देखा, वह बहुत कुछ आज-कल के शहरों-जैसा ही था।

दोपहर का भोजन करके हमलोग कुछ दूर तक मोटर पर पिरामिड देखने गए। एक स्थान पर पहुँचकर मोटर छोड़ देनी पडी। ऊँटों पर सवार होकर पिरामिडों तक जाना पड़ा। मेरे लिये ऊँट की सवारी बिलकुल नई थी, क्योंकि मै कभी ऊँट पर न चढ़ा था।

पिरामिडों के नजदीक जाकर देखा। ये बहुत ऊँची चौखूँटी इमारते है। हमारे देश में ईटो का पाजावा जैसा बनता है, वैसे ही ये पत्थरो के बहुत बड़े-बड़े चौरस टुकड़ों में बने है। पाजावे की तरह ही नीचे की चौड़ाई ज्यादा है, जो ऊपर की ओर कम होती गई है। ईटो का पाजावा छोटा होता है, पर पिरामिड बहुत बड़े और ऊँचे है। इनमें लगी एक-एक पत्थर की ईंट मेरे अनुमान मे चार-पाँच हाथ लम्बी होगी। इसी के अनुसार उनकी चौड़ाई और मुटाई भी है। एक-एक ईंट काटकर न जाने कितने दिनों में इतनी बड़ी इमारत तैयार हुई होगी। इसमें कितने गरीबो ने अपनी जिन्दगी का कितना हिस्सा लगाया होगा। और यह सब किसी एक राजा के नाम को, उसके मरने के बाद भी, कायम रखने के लिये किया गया था। नाम तो अब केवल पुस्तकों में रह गया है। ये इमारतें, जिनसे मनुष्य कोई

लाभ नही उठा सकता, अपनी जगह पर आज भी, हजारों बरस के बाद, ज्यों-की-त्यों खड़ी है ।

स्फिक्स एक अजीब चीज है । मुँह मनुष्य का और शरीर जानवर का है । एक बहुत बड़ी मूर्ति उस रेगिस्तान मे इसी शक्ल की बनी पड़ी है । सुनते हैं, प्राचीन काल में यह प्रश्नों के उत्तर देती थी । पर यह जो कुछ कहती थी, उसका समझना बहुत कठिन होता था । अब ये बाते तो नही है, पर यह मूर्ति अवश्य उस प्राचीन काल का स्मरण कराती रहती है ।

सन्ध्या समय वापस आकर हमलोग रेल पर सवार हुए और रात के ग्यारह बजे पोर्ट सईद पहुँचे । जहाज वहाँ पहुँच गया था । खाना-पीना रेल ही मे हो गया था, अत हम जाकर अपने-अपने कमरे मे सो रहे ।

भूमध्यसागर मे पहुँचने पर कुछ सर्दी लगने लगी । लाल समुद्र तो बहुत गर्म था—अरब सागर से भी अधिक । भूमध्यसागर में हवा भी कुछ जोर से चलती थी, इसलिये जहाज कुछ हिलता था । इटली के निकटवर्ती सिसली टापू के पास होकर जहाज गुजरा । वहाँ का शहर कुछ दूर पर देखने मे आया । पहाड़ साफ नजर आता था । कुछ दिन बाद हम मार्सेल्स (फ्रान्स) पहुँच गए । रास्ते में कोई विशेष बात नही हुई । समुद्र-यात्रा मे चारों ओर पानी-ही-पानी दीखता है । दिन-रात पानी देखते-देखते एक-दो दिनो के बाद जी ऊब जाता है । अगर कही कोई दूसरा गुजरता हुआ जहाज नजर आ गया या जमीन देखने में आ गई, तो बहुत आनन्द होता है । सभी मुसाफिर उसे इस तरह देखने लगते हैं मानो उन्होंने कभी जमीन देखी ही नहीं है ।

मार्सेल्स में हम लोग सबेरे ही उतरे । वहाँ एक होटल में ठहर गए । वहाँ भी कुक-कम्पनी की कृपा से शहर के देखने-योग्य सभी स्थानों को देख लिया । सबेरे जहाज से उतरते ही रात को रवाना होनेवाली गाडी मे

अपने लिये जगह मैंने ठीक करा ली थी । दिन भर घूम-घामकर रात की गाडी से पेरिस के लिये रवाना हो गया । पेरिस की गाड़ी बदलकर कैले पहुँचा । वहाँ फिर जहाज पर चढकर सन्ध्या होते-होते डोवर में उतर गया । डोवर से रेल मे चढ़कर रात के प्राय नौ बजे लन्दन पहुँच गया । लन्दन में मार्च के तीसरे सप्ताह मे पहुँचा था, पर अभी काफी सर्दी थी । स्टेशन पर पहले से से वहा पहुँचे हुए मित्र मिल गए । मै सीधा उस मकान में चला गया जो पहले ले लिया गया था । वह गोल्डर्सग्रीन में था । हमलोग कुछ दिनों तक वही ठहरे ।

लन्दन मै एक मुकदमे के सिलसिले में पैरवी करने गया था । वहाँ मेरा कार्यक्रम यह था कि मै अपनी आदत के मुताबिक बहुत सबेरे उठता । वहाँ लोग सबेरे बहुत देर तक सोये रहते है । वे अधिकतर रात के पहले पहर मे जाग कर काम करते है । मैं ऐसा कभी नही करता । जब सब लोग सोये ही रहते थे, मै मुँह-हाथ धोकर और स्नान करके कपड़े पहन कमरे में बैठ जाता और मुकदमे के कागज पढ़ने लगता ।

और लोग प्राय: ९ या ९।। बजे तैयार होते थे । उस समय तक मै प्राय दो घण्टे काम कर चुका होता था । उसके बाद नाश्ता करके प्राय: दस बजे लाइब्रेरी मे चला जाता । वहाँ कानून की पुस्तकें पढ़ने लगता । एक बजे दोपहर तक इस तरह काम करके नजदीक ही एक शाकाहारी रेस्तराँ में चला जाता । वहाँ कुछ फल, रोटी, दूध आदि खा लेता । फिर सन्ध्या तक कोर्ट मे काम करके प्राय: छः बजे वहाँ से वापस आता । आना-जाना रेल से होता, जो जमीन के भीतर ही चलती है । घर पर सन्ध्या का भोजन करके शाम को कुछ देर टहलने जाता और लौटकर कुछ काम करके सो जाता । इस तरह दो महीने बीते ।

यहाँ मैंने एक बात देखी । वह हमारे देश के वकील-बैरिस्टरो के लिये अनुकरणीय है । यह मेरा अनुभव है कि यहाँ के वकील-बैरिस्टर अपना कोर्ट

का वह समय, जो कि पेशी में व्यय नही होता, प्राय बराबर कर देते हैं। वे बार एसोशियेशन या लाइब्रेरी में बैठकर पुस्तके या कागज पढते है। मुकदमे की तैयारी वे घर पर ही किया करते हैं। कोर्ट का फालतू समय तो गप-शप मे ही व्यतीत होता है। पर इंगलैण्ड के वकील-बैरिस्टर अपना व सारा काम लाइब्रेरी या अपने चेंबर मे ही पूरा करते हैं। वे इजलास मे जजो के आने से कुछ पहले ही आ जाते है और इजलास उठ जाने के बाद भी घण्टा दो घण्टा बैठ जाते है। बीच में जब मुकदमे की पेशी से छुट्टी मिलती है, काम करते है। वे मुकदमे के कागज भी घर मे नही रखते। उनके विचार से घर तो घर ही है—जहाँ बाल-बच्चों से मिलना, बाते करना, खाना-पीना, दिल बहलाना अथवा जी चाहे तो दूसरी पुस्तके पढनी चाहिए। इस तरह दिन के पूरे समय का ठीक उपयोग होता है तथा रात का और छुट्टी का समय पूरा अपना होता है।

लन्दन से छुट्टी पाकर मै स्विट्जरलैण्ड गया। मेरी बहुत इच्छा थी कि मै श्री रोमारोलाँ से मिलूँ। पर उनके घर पहुंचने पर ज्ञात हुआ कि वे गर्मी के कारण कार्टरीगी पहाड पर गए है। मैं वहाँ चला गया। रास्ता सुन्दर था। रेल ऊंचे पहाड़ पर आहिस्ता-आहिस्ता चढती गई। दो दिन तक वहाँ रहा। बातचीत भी हुई। कठिनाई यह हुई कि मै फ्रेंच भाषा नही जानता था और वे इंगलिश नही जानते थे। एक दुभाषिये की सहायता लेनी पडी। पर उसकी विद्या भी कुछ अन्दाज की ही थी।

वहाँ से फिर लन्दन लौट आया। बर्नवेल, न्युटाटेल, लोसान और जेनेवा शहरों को देखा। न्युटाटेल मे एक आश्चर्यजनक घटना हुई। मैं वहाँ बाजार मे घूम रहा था। एक दूकान मे हाथ के बुने कपड़े बिकते थे। एक लडकी बेचने का काम कर रही थी। वह अंगरेजी भी जानती थी। जब मैने हाथ के बुने कपड़े की बाबत बातचीत की और उसने मेरे कपड़ो को देखा तब समझ लिया कि मै हिन्दुस्तान का रहनेवाला हूँ। मुझे यह जानकर

बहुत आश्चर्य हुआ कि वह न केवल गाँधीजी का नाम जानती थी, बल्कि गाँधी जी के सम्बन्ध में जो ग्रन्थ उसे मिल सके थे, उन्हे वह पढ़ गई थी।

लन्दन से मै हालैण्ड गया। वहाँ उन दिनों युवकों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हो रहा था। मैंने भी उसमें भाषण किया। सम्मेलन युद्ध-विरोधी युवकों का था। वहाँ से बर्लिन गया। घूम-घूम कर बर्लिन देखा। बर्लिन से लीपजिग पहुँचा और वहाँ एक दिन ठहरा। वहाँ प्रसिद्ध जल-चिकित्सक लुई कोहने से मिलने का विचार हुआ, पर ज्ञात हुआ कि मेरे पहुँचने से पूर्व ही उनकी मृत्यु हो चुकी है। फिर अपने यात्रा-क्रम के अनुसार म्यूनिख पहुँचा। वहाँ पर प्रसिद्ध सेलरहौस देखा, जहाँ हिटलर के भाषण हुआ करते थे। वहाँ का प्रसिद्ध अजायबघर भी देखा। म्यूनिख से वेनिस गया। अजीब शहर है। समुद्र घर-घर में है। नाव के सिवा दूसरी सवारी वहाँ नहीं चलती। पानी के बीच चट्टानें है, उन्हीं पर मकान बने हैं। मच्छरो की भरमार है; मसहरी मे भी नीद आना कठिन है।

वेनिस से रोम पहुँचा। वहाँ के सभी प्रसिद्ध स्थान देखकर मार्सेल्स के लिये रवाना हुआ। मार्सेल्स से 'मुल्तान' जहाज पर सवार हुआ और सितम्बर के दूसरे सप्ताह मे बम्बई आ उतरा।

मेरे मालवीय जी

(श्रीसीताराम चतुर्वेदी)

[चतुर्वेदी जी सुयोग्य वक्ता, कुशल लेखक और उत्तम अध्यापक हैं। शिक्षा-शास्त्र के सम्बन्ध में आपने अनेक उत्तम पुस्तकें लिखी हैं। अपने छात्र-जीवन से ही आप सफल अभिनेता भी रहे हैं अतः इस समय आपके लिखे हुए कई नाटक हिन्दी संसार में भलीभाँति समादृत हुए हैं। महामना मालवीय जी के विषय में लिखा हुआ उनका यह संस्मरण साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त उच्चकोटि का है।]

समस्त जाति जिसे अपनाने को व्याकुल हो, समग्र देश जिससे ममत्व जोड़ने का हठ करता हो, समूचा विश्व जिसे परम आत्मीय मानने पर अड़ा बैठा हो, उसे 'मेरे' के परम संकुचित, नितान्त क्षुद्र और अत्यन्त स्वार्थपूर्ण घेरे मे बाँध छोड़ना कितनी बड़ी ढिठाई है, कितना बड़ा दु:साहस है, कितनी बड़ी मूर्खता है यह सभी समझ सकते हैं। किन्तु फिर भी इस ढिठाई, दु.साहस और मूर्खता के लिये न मुझे संकोच है, न भय है और न पश्चात्ताप ही है। परम सकट में पड़ा हुआ निराश्रित आर्त्त जब उस अणु-परमाणु में व्याप्त परमात्म तत्त्व को 'मेरे भगवान्' कहकर उसके परम को 'मेरे' की सूक्ष्मतम सीमा मे कस डालने का दुराग्रह करता है, उस समय उसके छोटे-से 'मेरे' में घिरा हुआ भगवान् सहसा वामन से त्रिविक्रम बनने लगता है और सम्पूर्ण सृष्टि का ममत्व उस एकाकी के 'मेरे' में इस प्रकार गूँजने लगता है मानो उसके 'मेरे' सहसा सबके 'मेरे' हो गए हो। उसी प्रकार यदि मै भी उन पुण्य-श्लोक ब्रह्मर्षि को 'मेरे' कहकर अपना बताने का आग्रह करूँ तो किसी को बुरा नहीं मानना चाहिए।

अपने जीवन के अत्यन्त संक्षिप्त अतीत के उस पुण्य दिवस को मैं भुलाए नहीं भूल सकता, जब सन् १९२० के किसी माङ्गल्य मास में मुजफ्फरनगर

जनपद या युक्त प्रान्तीय राष्ट्रीय सभा के अधिवेशन में पहली बार मैंने उन ब्रह्मवर्चस-संयुक्त तेजस्वी महापुरुष के मंगलमय दर्शन किए थे और उनकी अनन्त मधु-स्राविणी वाणी पर अपनी अबोध बाल्यावस्था में संचित सम्पूर्ण श्रद्धा-विभूति उनके चरणों में चुपचाप अर्पित कर दी थी। उसका परिणाम यह हुआ कि शनैः-शनैः एक रहस्यमयी संकल्प धारा मेरे मानस में निश्चित पथ बनाती हुई इतने प्रबल वेग से बहने लगी कि पूज्य मालवीयजी मेरे जीवन के, मेरी साधना के, मेरे विश्वास के और प्रवृत्ति के एकमात्र आलोक-दीप बन गए। इस दिव्य आलोक से मैं इतना प्रभावित हुआ कि मैं उनका प्रशंसक ही नहीं, श्रद्धालु भी बन गया, श्रद्धालु ही नहीं पुजारी भी बन गया, पुजारी ही नहीं भक्त भी बन गया।

हाई स्कूल की परीक्षा पास कर चुकने पर जब सभी लोग मुझे मेरठ कालिज में नाम लिखवाने के लिये उत्साहित कर रहे थे, उस समय माताजी के स्नेह, पिताजी के वात्सल्य, भाई बहनों की ममता, मित्रों के सौहार्द और घर की समीपता, सब पर एक विशाल महत्त्वाकांक्षा अधिकार किए बैठी थी, वह थी काशी जाने की, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ने की, विश्वविद्यालय के कुलपति के सम्पर्क में आने की। महत्त्वाकांक्षा सफल होने वाली थी, क्योंकि पूज्य पिताजी की कृपा से मैं विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हो गया। विश्वविद्यालय के साथ मेरा पैतृक सम्बन्ध भी है; क्योंकि उसकी स्थापना के लिये जो महायज्ञ हुआ था उसके होताओं में मेरे पिताजी भी थे और फिर काशी मेरी जन्मभूमि, जन्मपुरी भी थी, यह भी कम आकर्षण नहीं था।

हिन्दू विश्वविद्यालय में पहुँचने पर मैं किस ऐतिहासिक क्रम से उनके समीप, समीपतर और समीपतम पहुँच गया, यह मैं स्वयं नहीं कह सकता, किन्तु पहुँचकर उनका वात्सल्य-भाजन और विश्वास-पात्र बन गया, यह मैं कह सकता हूँ, और बड़े गर्व से कह सकता हूँ। कल्पना के नेत्रों से मैं देख रहा हूँ कि वे व्यासपीठ पर बैठे हैं, पलथी जमाए चारों ओर, अध्यापक, छात्र और

छात्राओं का विशाल समूह एक दृष्टि होकर उनके दर्शन कर रहा है, एकाग्र होकर उन्हें सुन रहा है। और मैं कल्पना के कानों से अब भी सुन रहा हूँ—"विदुला का पुत्र युद्ध से लौटकर चला आया। विदुला ने पूछा—क्या विजय लेकर लौटे हो? उसने कहा—नहीं, मैं युद्ध नहीं करना चाहता, मैं व्यर्थ इतने प्राणियों का संहार नहीं करना चाहता। राज्य जाता है तो जाय। विदुला कड़ककर गरज उठी—कायर! मेरी कोख से, क्षत्रिया की कोख से जन्म लेकर तू इस प्रकार की, भगोड़ेपन की, निर्वीर्यता की बात करता है, तुझे धिक्कार है। यदि तू क्षत्रिय का पुत्र है तो जा, तत्काल चला जा युद्ध-क्षेत्र में, लड़ते-लड़ते प्राण भी दे-दे तो भी श्रेय है—

'क्षणं प्रज्वलितं श्रेयं—
न च धूमायितं चिरम्।

—क्षण-भर के लिये भी भभककर जलना अच्छा है किन्तु बहुत दिनों तक धुआँ देते हुए धीरे-धीरे सुलगना अच्छा नहीं है। चला गया विदुला का पुत्र और लौटा विजय लेकर।"

मैं फिर सुन रहा हूँ उनकी वाणी। वे कहते जा रहे हैं महाभारत की कथा, और अर्जुन का प्रसंग आते ही सहसा अपने मधुर स्वर को ऊँचा उठाते हुए कहने लगते हैं—विद्यार्थियो और विद्यार्थिनियो! अर्जुन की दो प्रतिज्ञाएं थीं—न मैं दीनता के साथ किसी के आगे गिड़गिड़ाऊँगा और न पीठ दिखाकर भागूँगा। 'अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्।' आप लोग भी ऐसे ही बनो। कभी किसी के आगे अपना सिर न झुकने दो और जो आवे उसे ललकार दो। उसी धारा में उपसंहार करते हुए वे कहते हैं—

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया।
देशभक्त्यात्मत्यागेन-सम्मानार्हः सदा भव॥

[सत्य से, ब्रह्मचर्य से, व्यायाम से, विद्या से, देशभक्ति से, आत्म-त्याग से सदा सम्मान पाओ ।]

मैं फिर देख रहा हूँ कि सन्ध्या समय बिड़ला-छात्रावास में वे घूम रहे हैं । उनके साथ हैं आचार्य आनन्दशंकर, बापू भाई ध्रुवजी और उनके पीछे-पीछे चले जा रहे हैं श्रीलक्ष्मणदासजी इंजीनियर । एक छात्र भीतर की कोठरी में बैठा पढ़ रहा है । वह इन्हें देखकर सकपकाकर उठ खड़ा होता है । और ये अपनी लोक-विश्रुत स्वाभाविक मुसकान के साथ कहते हैं, 'अरे ! इतना पढ़ते हो । बुद्धि तो बढ़नी ही चाहिए पर शरीर भी बढ़ना चाहिए । क्या करोगे बहुत बुद्धि लेकर; जब कोई आकर तुम्हें उठाकर पटक देगा । देखो एक दोहा कंठस्थ कर लो—

दूध पिओ कसरत करो, नित्य जपो हरि नाम ।
मन लगाइ विद्या पढ़ो, पूरे हों सब काम ।।'

कहो दोहे को । वह विद्यार्थी भी दोहा कहने लगता है । आचार्य ध्रुवजी अपनी छड़ी दोनों हाथों से पकड़े हुए, उसकी गोल मूठ कन्धे पर जमाए देख रहे हैं हिन्दू-विश्वविद्यालय के कुलपति की शिक्षा-प्रणाली ।

विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-समारोह के अवसर पर उनके उपदेशों की ध्वनि आजतक मैं स्पष्ट सुन रहा हूँ—सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । मातृ देवो भव । पितृ देवो भव । आचार्यदेवो भव ।—और दीक्षान्त भाषण में वे कहते जा रहे हैं—हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना इसलिये की गई है कि यहाँ के छात्र विद्या भी प्राप्त करें और साथ ही अपने धर्म और अपने देश के भी सच्चे सेवक बनें । यह विश्वविद्यालय दोनों के लिये है । यहाँ के द्वार सबके लिये खुले हुए हैं । मैं चाहता हूँ कि यहाँ आकर कोई लौटकर न जाय । सच्चरित्रता हमारे विश्वविद्यालय का मूल मन्त्र है और यही हमारी शोभा है । केवल डिग्री देने के लिये तो बहुत-से विश्वविद्या-

लय बने हुए है । हम प्रत्येक छात्र को शुद्ध सात्विक, तेजस्वी और वीर मनुष्य बनाना चाहते है जो ईश्वर मे विश्वास करे, प्रत्येक प्राणी का आदर करे, वीरता के साथ अन्याय का विरोध करे और आत्म-सम्मान के साथ, सच्चाई के साथ जीविका चलाता हुआ अपना, समाज का और देश का कल्याण कर सके ।

आज वे दिन नही रहे और वे मालवीयजी भी नही रहे—

"नैनन में जो सदा रहते—तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करे"

किन्तु उनके न रहने पर भी उनके उपदेश चिरजीवी हैं, उनके आदर्श अमर है, उनकी रचनाएँ सुचिर प्रतिष्ठित हैं । भावी जाति मे दृढ़ संकल्पता, अध्यवसाय, लोक-कल्याण और आत्मत्याग की सजीव भावना भरने के लिये उनका हिन्दू विश्वविद्यालय शतश: स्वरूप लेकर उनकी अमर कीर्त्ति का गुणगान कर रहा है; किन्तु फिर भी मालवीयजी की स्मृति हटती नहीं है । उनकी अनुपस्थिति निरन्तर खटकती जा रही है । क्योंकि जिस आत्मभाव से विश्वविद्यालय के प्रत्येक छात्र के हृदय में, विश्वविद्यालय की ईंट-ईंट मे, वृक्ष-वृक्ष मे, कण-कण मे वे व्याप्त थे, वह आत्मभाव कहीं देखने को नही मिल रहा है । यों तो राम गए और कृष्ण भी गए और फिर भी संसार चला ही जा रहा है, हँसता-खेलता, रोता-गाता, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वह उसी प्रकार चला जा रहा है जैसे चाहिए था? इसका उत्तर शुद्ध नकारात्मक है । और इसीलिये बार-बार स्रष्टा की स्मृति प्रबल होकर मानस को विक्षुब्ध किये डाल रही है, मथे डाल रही है ।

पुण्यश्लोक मालवीयजी के गुणानुकीर्त्तन के लिये, उनकी सर्वतोमुखी क्रियाओ की व्याख्या के लिये, उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं की सरणि बनाने के लिये जिस योग्यता की अपेक्षा होनी चाहिए उसके सर्वथा अभाव मे वाणी सहसा मूक हो जाती है और 'नेति' का सीधा-सा, सरल-सा, आधार लेकर मौन

रहने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं रह जाता । वे धर्मनिष्ठ पुरुष थे आचार में भी, विचार में भी । यदि व्यासजी के अनुसार लोककल्याण को ही हम धर्म की कसौटी मान लें तो मालवीयजी की रेखा उस पर सबसे अधिक प्रदीप्त दिखाई देगी । शिक्षा के क्षेत्र में जिन फ्रोबेल, मौन्तेसारी, रूसो, पैस्तालौजी आदि शिक्षा-शास्त्रियों की नामावली ने संसार को प्रभावित कर रखा है, वे सब एकत्र होकर भी मालवीयजी तक नहीं पहुँच सकते, क्योंकि इन सबने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं उन सब का लक्ष्य सामाजिक दृष्टि से मनुष्य के बच्चे को जीने योग्य मनुष्य बना देना-भर है । किन्तु माल-वीयजी की शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के बच्चे को केवल मनुष्य ही नहीं वरन् देवता बना देने का है, जिसकी संसार पूजा करे, जिससे शक्ति, उत्साह और प्रेरणा का वरदान माँगे, जिसके आशीर्वाद में जीवन के सम्पूर्ण दैवी तत्त्व प्राप्त कर सके । किस शिक्षा-शास्त्री ने यह कल्पना की है ? केवल मनो-विज्ञान का एक झूठा ढोंग खड़ा करके अव्यावहारिक सिद्धान्तों के इन्द्र-जाल में लोकवृत्ति को फँसाने का एक मोहक जाल-भर विदेशी शिक्षा-शास्त्रियों ने फैला दिया है पर वास्तव में उसमें तत्त्व कुछ नहीं, उसका परिणाम कुछ नहीं ।

राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने जिस अध्यवसाय, जिस साहस और जिस आत्म-त्याग का प्रदर्शन किया है वह उनका अलौकिक कार्य है । शब्दों की शक्ति उस तक पहुँचने में भी अशक्त हो रही है । किन्तु सबसे अधिक प्रभाव-शाली उनका व्यक्तित्व था, वे स्वयं थे ।

प्रत्येक व्यक्ति को सदा यह अधिकार था कि वह उनसे जब चाहे जाकर मिले, चाहे जितनी देर तक उनसे बातचीत करे और चाहे जिस काम के लिये उनसे पत्र लिखवा ले । और वे—अतुलित धैर्य के साथ सबकी बातें एकाग्र होकर सुनते, दुःखी के दुःख में स्वयं भी रोने लगते और जिस प्रकार भी हो सकता उसे निराश न लौटने देते । न जाने कितनी बार ऐसा हुआ है

कि केवल सहायता और लोक-कल्याण के लिये उन्होंने नियमों की भी चिन्ता नही की । एक बार एक छात्र इंटर की परीक्षा में एक विषय मे १३ अंकों से अनुत्तीर्ण हो गया । वह विलायत डाक्टरी पढ़ने जाने वाला था, उसे प्रवेश भी मिल गया था । किन्तु इस अनुत्तीर्णता ने उसकी सम्पूर्ण आकांक्षाओं पर पानी फेर दिया । मैंने पूज्य मालवीयजी से सब घटना कही । उन्होंने तत्काल रजिस्ट्रार को बुलाकर अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करके उस बालक को उत्तीर्ण घोषित करने की आज्ञा दे दी । रजिस्ट्रार महोदय ने कहा कि यदि यह छात्र उत्तीर्ण कर दिया जायगा तो लगभग ३६ विद्यार्थी और भी उत्तीर्ण करने पड़ेंगे । पूज्य मालवीय जी ने तत्काल कहा—तो डरते क्या हो । करो सबको उत्तीर्ण । हमारे विश्वविद्यालय में एक भी छात्र अनुत्तीर्ण नही होना चाहिए ।

मनुष्यता ही उनका नियम था और देवत्व उनका गुण था । कभी सुना करते थे —

गायन्ति देवा किल गीतिकानि, धन्यास्तु ये भारतभूमि भागे ।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतु भूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।

(देवता लोग यह गीत गाते है कि वे धन्य है जो स्वर्ग और अपवर्ग के लिये सहायक भारतवर्ष मे मनुष्य होकर जन्म लेते है ।

मालवीयजी भी ऐसे ही कोई देवता थे जो हम लोगों के महापुण्य के कारण यहाँ आए और हमे शक्ति देकर, साधन देकर, अन्तर्धान हो गए और अन्तर्धान होने के पूर्व सम्पूर्ण देश को और हिन्दू-समाज को जो उन्होंने दिव्य सन्देश और आदेश दिया है वह उनकी स्मृति को चिरस्थायी करने को अकेला ही पर्याप्त है ।

यदि मे उनसे अपने निकटतम सम्पर्क को थोड़ी देर के लिये भूल भी जाऊं तब भी उनके देवत्व का ध्यान करके मे भक्त की तन्मयता से साहस, शक्ति और स्फूर्ति प्राप्त करने के लिये ही उन्हें पुकार सकता हूँ—'मेरे मालवीयजी

महामना के साथ एक दिन

(श्री राम नरेश त्रिपाठी)

[श्रीत्रिपाठी का जन्म जौनपुर जिले के कोइरीपुर नामक ग्राम में हुआ है । आप हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक, कवि तथा कहानीकार हैं । इसके अतिरिक्त अंग्रेजी, फारसी उर्दू तथा संस्कृत के अच्छे ज्ञाता हैं ।]

आज भाद्रपद की पूर्णिमा है । शरद् ऋतु का प्रारम्भ है । आकाश बिलकुल स्वच्छ है । शाम के सात बजे हैं । चन्द्रदेव अपनी मनोहर किरणों से सृष्टि पर मादकता की वर्षा कर रहे हैं । तृण से लेकर ताड़ तक सभी श्रेणी के वृक्ष, पौधे, गुल्म, लताएँ और फूल मानो सुधा पीकर तृप्त और निस्तब्ध हो गए हैं । चारों ओ शान्ति है ।

चन्द्रदेव इसी रूप में प्रतिमास पृथ्वी-निवासियों के सामने आते है और यह विहँसता हुआ मुँह हमेशा दिखला जाते हैं । करोड़ों वर्ष हो गए, उन्होंने कभी अपना मुँह हमारी ओर से मोड़ा नहीं । उन्हे हम लाखों पीढ़ियों से देखते आते हैं, पर आज तक उनकी मिठास मे कभी बासीपन नहीं आया । हमारे पूर्वजों को वे जितने प्यारे लगते थे, हमको भी उतने ही लगते है । कैसा शाश्वत सौन्दर्य उनको मिला है ।

पूर्णिमा की मनोहर रात्रि में विश्वविद्यालय का सौन्दर्य कैसा निखर उठता है, क्या कभी किसी ने देखा है ? देश-विदेश के दूर-दूर के यात्री लोग पूर्णिमा की रात्रि में ताजमहल की शोभा देखने जाते है, पर विश्वविद्यालय का दिव्य रूप देखने की कल्पना किसी को क्यो सूझी ?

यदि कोई ऐसा ऊँचा स्थान बनाया जाय जहाँ से सम्पूर्ण विद्यालय देखा जा सके, तो पूर्णिमा की स्वच्छ-रात्रि में उस पर खड़े होकर देखने से यह अद्भुत चमत्कार दिखाई पड़े बिना न रहेगा कि देखते-देखते विश्वविद्यालय सिमिटते-

सिमिटते एक वृद्ध हिन्दू तपस्वी की मूर्ति में परिवर्तित हो जायगा और अन्त में वह मूर्ति ही आँखों के सामने रह जायगी ।

आज महाराज चन्द्रिका-सिक्त रजनी में भ्रमण करने निकले । घूमते-घूमते उस सड़क पर से निकले जिसकी दाहिनी ओर राजपूताना होस्टल का शुभ्र प्रासाद पड़ता था । उस समय की शोभा अवर्णनीय थी । ऐसा जान पड़ता था कि दूर से अलकापुरी दिखाई पड़ती है ।

चलती हुई मोटर पर से ऐसा मालूम पड़ता था कि छोटे-बडे वृक्षो की आड में वह भूल-भुलैया-सा खेल रहा था ।

महाराज कहने लगे चाँदनी रात में विश्वविद्यालय बड़ा सुन्दर लगता है ।

महाराज को विश्वविद्यालय की प्रशसा सुनने को मिलनी चाहिए । इससे बढ़कर सुख शायद ससार मे उनके लिये दूसरा नही है ।

हम दोनो अपने-अपने पात्रों में उस समय के दृश्य की सुख-सुधा चुपचाप भरते हुए बंगले को लौटे ।

रात फिर वही रेडियो और समाचार-पत्र और अन्त में भारतवर्ष और हिन्दू जाति के भविष्य के लिये छटपटाना ।

वर्तमान युग में हिन्दू जाति के लिये ऐसी चिन्ता शायद ही किसी भारत-वासी में होगी । मैंने महाराज के जीवन के बहुत अंक अब तक देख, सुन और पढ लिए हैं । महाराज अपने ध्यान में निमग्न थे और मै बहुत देर तक बैठे-बैठे यह सोचता रहा कि महाराज हिन्दू जाति की सम्पूर्णता की रक्षा के लिये कहाँ तक आगे बढ़े हैं ।

हिन्दू जाति मे अछूतों के साथ जिस प्रकार का व्यवहार शताब्दियो से चला आ रहा था यद्यपि वह घृणा-सूचक नहीं था जैसा उसे इधर कुछ वर्षो से अछतो का पक्ष लेकर भाषण करने वाले नेताओं ने बना दिया है । अछूत

मे बहुत से सन्त हुए है और अब भी है, जिनका आदर सच्चे साधुओं के समान ही हिन्दू लोग करते रहे हैं और अब करते है ।

गाँव में चमार हलवाहे खुल्लम-खुल्ला कुओं में पानी भरते है और कोई रोक-टोक नहीं करता । ठेले-मेले में वे सब के साथ घूमते-फिरते रहते है और मन्दिरों मे उत्सवों के अवसर पर साथ ही दर्शन भी करते है । पर उनके वर्त्तनो को कुएँ में नही जाने दिया जाता, क्योकि वे अशुद्ध होते है । स्वच्छता की दृष्टि से यह आवश्यक भी है । देश काल, के प्रभाव से कुछ विषयो मे अछूतों के साथ हिन्दुओं की सहानुभूति नष्ट हो चली थी । उसी का परिणाम अछूत-आन्दोलन है ।

हिन्दू जाति की सम्पूर्णता की रक्षा का सब से पहला प्रयत्न स्वामी रामानन्द ने किया । उनके बाद गोस्वामी जी ने अपना व्यापक प्रयोग किया । उनके बाद स्वामी दयानन्द आते हैं । स्वामी जी ने भी अछूतों के लिये मार्ग चौड़ा करने का उद्योग किया और आर्य-समाज के अन्तर्गत काम करनेवाली सस्थाओ और शुद्धि-सभाओ ने उस मार्ग पर चलकर अछूतो को न्याय दिलाया भी । स्वामी जी के बाद महात्मा गाँधी ने अछूतों का प्रश्न हाथ में लिया और देश भर भ्रमण करके उन्होने उसे अत्यावश्यक प्रश्न बना दिया ।

समय और समाज की गति मे पूर्ण परिचित मालवीय जी ने इस प्रश्न को अपने ही दृष्टिकोण से हल किया । उन्होंने हिन्दू समाज मे परम्परागत सनातन धर्म के अन्दर ही शनैः-शनैः बढ़े हुए इस सामाजिक रोग का इलाज निकाला और वैसा ही व्यापक उसका प्रभाव भी हुआ ।

उसके अनुसार सन् १९२७ मे महाशिव-रात्रि के दिन काशी दशाश्वमेध घाट पर उन्होने चारों वर्णो को ओम् नमः शिवाय, ओम् नमो नारायण, ओम् रामाय नमः, ओम नमो भगवते वासुदेवाय आदि मंत्र की शिक्षा दी । ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक को उन्होंने मंत्र-शिक्षा दी थी ।

इस मन्त्र-दीक्षा का यह सब से बड़ा परिणाम निकला कि हरिजन समझने लगे कि हम भी विशाल हिन्दू जाति के अंग है और सारा हिन्दू समाज हमारे साथ है ।

महाराज ने अछूतों को यह दोहा बनाकर दिया—

दूध पियो, कसरत करो, नित्य जपो हरिनाम ।
हिम्मत से कारज करो, पूरेंगे सब काम ।।

अछूतोद्धार आन्दोलन में महाराज को जो सफलता मिली और उससे जो हर्ष उन्हें हुआ उसका उद्‌गार उन्हीं के शब्दों मे सुनिए—

'कूप खुले, मन्दिर खुले, खुले स्कूल चहुँ ओर ।
सभी सड़क जमघट खुले, नाचत है मन मोर ।।

"नाचत है मन मोर" मे महाराज का जीवन साफल्य स्वयं नृत्य कर रहा है ।

आत्म-कथा

विद्यार्थी-जीवन

मै लड़कपन में बड़ा प्रसन्न और चैतन्य रहता था । मेरे मुहल्ले मे एक घुरहू साहु रहते थे, वे मुझे मस्ता कहा करते थे ।

जब मैं ५ वर्ष का हुआ, तब मेरा विद्यारम्भ कराया गया । उस समय प्रयाग में, अहियापुर मुहल्ले में कोई पाठशाला नही थी। लाला मनोहरदास रईस की कोठी के चबूतरे पर, जो तीन सवा तीन फुट चौड़ा और दस-पन्द्रह फुट लम्बा था, उसी पर टाट बिछाकर एक गुरुजी लड़कों को महाजनी पढ़ाया करते थे गुरुजी कही पश्चिम के रहने वाले थे वे पहाड़ा पढ़ाते थे ।

मैंने पहल-पहल पढ़ना वहीं से प्रारम्भ किया। वहाँ से हरदेवजी की पाठशाला में चला गया। उसका नाम था—धर्म ज्ञानोपदेश पाठशाला।

पंडित हरदेव जी मथुरा के रहनेवाले थे। भागवत के अच्छे विद्वान् थे। वे गौ पालते थे और विद्यार्थियों को दूध भी पिलाया करते थे।

धर्म ज्ञानोपदेश पाठशाला सबेरे ६ बजे से शुरू होती थी। ६॥ बजे घंटा बजता, तब सब लड़के सभा-भवन में आ जाते थे। जब सब जमा हो जाते, तब कोई एक विद्वान् या ऊपर की श्रेणी का कोई विद्यार्थी पंडितजी के आदेश के अनुसार कोई एक श्लोक पढ़ाता था। उसके एक-एक टुकड़े को सब विद्यार्थी दुहराते जाते थे। इस प्रकार सब विद्यार्थियों को मनुस्मृति, गीता और नीति के कितने ही श्लोक कंठ हो गए थे। मुझे कुछ श्लोक और स्तोत्र पिताजी ने याद करा दिए थे। आजतक मेरे मूलधन की पूँजी वही है।

पंडित हरदेवजी संगीत के भी प्रेमी थे। पहले उन्होंने एक अक्षर-पाठशाला भी खोली थी। उनका अभिप्राय था कि कोई बालक निरक्षर न रहे। उसी पाठशाला का नाम पंडितजी ने बाद में धर्म ज्ञानोपदेश पाठशाला रक्खा। धार्मिक शिक्षा की ओर गुरुजी का अधिक ध्यान था। साथ ही साथ शारीरिक बल बढ़ाने की शिक्षा भी वे देते थे। पाठशाला में वे कुश्ती भी लड़वाते थे।

हरदेवजी की पाठशाला में संस्कृत, लघुकौमुदी आदि पढ़ता था। यह पाठशाला अब मेरे मकान के पास दक्षिण की ओर है और हरदेवजी की पाठशाला के नाम से प्रसिद्ध है। यह पाठशाला अब तक स्थित है और इसमें संस्कृत कालेज की आचार्य परीक्षा के लिये विद्यार्थी तैयार किए जाते हैं। प्रान्तीय संस्कृत पाठशालाओं में उसका स्थान ऊँचा है।

आठ वर्ष की अवस्था में मेरा यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। पिताजी ही ने गायत्री-मंत्र की दीक्षा दी थी।

शायद सन् १८६८ में गवर्नमेंट हाई स्कूल खुला। मेरी इच्छा अंग्रेजी

पढने की हुई । माताजी से आज्ञा लेकर मैं स्कूल में भरती हो गया । उस समय फीस बहुत कम लगती थी । मेरे भाई को तीन आने देने पड़ते थे और मुझे डेढ़ आने ।

घंटाघर के पास जिस मकान मे आजकल चुंगी घर है, उसी में हाई स्कूल था । उसमे ग्यारह क्लास थे । दो-दो सेक्शन थे । ग्यारहवें क्लास के दूसरे सेक्शन में मैं भरती हुआ था । बड़े भाई जयकृष्ण (पं० कृष्णकान्त मालवीय के पिता) को हेडमास्टर साहब बकते थे कि इतने इतने छोटे बच्चों को स्कूल में क्यों लाते हो ? पंडित जयकृष्ण मुझसे ८ वर्ष बड़े थे । मैं उन्ही के साथ स्कूल जाया करता था ।

अंग्रेजी शुरू करने के बाद संस्कृत में मै कम ध्यान देने लगा, तब मेरे चाचा ने मेरी माँ से कहा—इसको अंग्रेजी पढ़ने में क्यों लगा दिया है ? संस्कृत पढता तो बड़ा पंडित होता । मुझ पर इसका प्रभाव पडा और मैं स्कूल और कालेज तक संस्कृत पढ़ता चला गया ।

स्कूल में मैं पानी नही पीता था । प्यास लगती तो घर जाकर पी आता था । एक दिन मौलवी साहब ने छुट्टी देर से दी । प्यास बहुत लगी थी । घर गया तो रोता हुआ गया । माँ से शिकायत की कि मौलवी साहब ने छुट्टी नही दी और प्यास के मारे मुझे बड़ी तकलीफ हुई, मैं अब स्कूल नही जाऊँगा । उसी समय मेरे ताऊ पंडित लीलाधर, जो मेरी बातें सुन रहे थे, वहीं आ गए । उन्होंने मेरी पीठ पर एक थप्पड़ दिया और घुड़क कर कहा—जाओ स्कूल । नही जाएँगे । क्यों नही जाओगे ?

मै बिना पानी पिए ही, रोता हुआ, उलटे पाँव लौट गया । तब से पानी की व्यवस्था स्कूल ही मे की गई । एक लोटा रक्खा गया । नन्हकू कहार लोटे को माँज कर अलग रखता था । मुझे प्यास लगती तो उसी से पानी पिया करता था ।

जब मेरी अवस्था १५ वर्ष की हुई, तब से मैं घर में रखी हुई पोथियों के बेठन खोलने और बाँधने लगा। बीच-बीच में पोथियाँ पढ़ता भी रहता था। कुछ पोथियाँ खराब भी हुई होंगी, पर उनमें से मैंने बहुत से श्लोक कंठ कर लिए थे। इन पोथियों में 'इतिहास समुच्चय' नाम की एक पोथी थी, जिसमें महाभारत के चुने हुए ३२ इतिहास हैं। मेरे धर्म-सम्बन्धी विचारों और ज्ञान के बढ़ाने में यह पुस्तक बड़ी सहायक हुई।

स्कूल में भरती होने के बाद भी पाठशाला में जाना नहीं छूटा था। पाठशाला में एक पंडित ठाकुरप्रसाद दूबे थे। वे भागवत　के बड़े विद्वान् थे। वे विद्यार्थियों को संस्कृत का श्लोक सिखाया करते थे। वे ऐसा शुद्ध उच्चारण करते थे कि उनके उच्चारण को सुनकर हम लोग शायद ही कभी अशुद्ध लिखते हों।

१६ वर्ष की अवस्था में मैंने एंट्रेंस पास किया।

संस्कृत की जो शिक्षा मुझे प्राप्त हुई है, वह मेरे चचेरे भाई पंडित जयगोविन्द के अनुग्रह से हुई है। एंट्रेंस पास कर लेने पर मैंने उनसे सम्पूर्ण 'काशिका' पढ़ी। परन्तु फिर उसे दोहराया नहीं। अपने चाचा श्री पंडित गदाधर जी से मैंने भागवत पढ़ी या नाटक, ठीक याद नहीं। पंडित गदाधर जी संस्कृत के बड़े विद्वान् थे। उन्होंने पहले-पहल 'वेणी संहार' का भाषा में अनुवाद किया था। बाद में प्रबोध-चन्द्रोदय, शुक्र-नीति, मृच्छ-कटिक और प्रचण्ड कौशिक का भी अनुवाद उन्होंने किया। वे बहुत अच्छी हिन्दी लिखते थे।

मेरा विवाह मिर्जापुर के पंडित नन्दराम जी की कन्या से १६ वर्ष की अवस्था में हुआ था। मेरे चाचा पंडित गदाधर प्रसाद जी मिर्जापुर के गवर्नमेन्ट हाई स्कूल में हेड पंडित थे। मैं प्रायः छुट्टियों में उनके पास जाया करता था। एंट्रेंस पास होने के बाद मैं एक बार मिर्जापुर गया था। गया तो था

पत्नी के मोह से, पर एक धर्म-सभा का अधिवेशन हो रहा था उसमें चला गया। एक महन्त सभापति थे। कई वक्ताओं के बोल चुकने के बाद गदाधर चाचा से पूछ कर मैंने भी धर्म-विषय पर भाषण किया। उसकी बड़ी प्रशंसा हुई। लोग पीठ ठोंकने लगे। तब से मेरा उत्साह बहुत बढ़ गया।

धार्मिक भावों की ओर मेरा झुकाव लड़कपन ही से था। स्कूल जाने के पहले मैं रोज हनुमान जी का दर्शन करने जाता था।

लोकनाथ महादेव के पास मुरलीधर चिमनलाल गोटेवाले के चबूतरे पर पिताजी कथा बाँचने जाते थे। मुट्ठीगंज के मन्दिर में भी वे कथा कहने जाया करते थे। मैं दोनों कथाएँ सुनने के लिये नित्य जाता था और उनकी चौकी के पास बैठ जाता था और बडे ध्यान से कथा सुनता था। पिताजी ने एक दिन कहा—'तू बड़ा भक्त है'। यह सुन कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई थी।

मैं गायत्री का जप बहुत किया करता था। एक बार घर वालों को शंका हुई कि मैं साधु न हो जाऊँ और वे मेरी निगरानी रखने लगे।

ऐंट्रेंस पास करने के बाद मैं म्योर सेंट्रल कालेज में पढ़ने लगा। कालेज में एक 'फ्रेंड्स' डिबेटिंग सोसायटी' थी। उसमें मैंने पहली स्पीच अंग्रेजी में दी। वह इतनी अच्छी समझी गई कि इंस्टीट्यूट के सेक्रेटरी लाला साँवल दास ने मेरी पीठ ठोकी और बड़ी प्रशंसा की। लाला सांवलदास बाद को डिप्टी कलक्टर हो गए और अवकाश ग्रहण करने के बाद वे रेवेन्यु मेम्बर के पद पर कुछ समय तक काम करते रहे। बच्चा जी (लाला मनमोहनदास, इलाहाबाद के एक रईस) के बगल में उनकी कोठी है।

जब मैं कालेज में पढ़ता था, तब उन दिनों माघ-मेले के सरकारी प्रबन्ध से हिन्दू लोग बहुत असन्तुष्ट थे। पंडित आदित्य राम भट्टाचार्य कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर थे। लोक-सेवा के कार्यों में मेरी रुचि देखकर वे बहुत

प्रसन्न हुए । वे मुझ पर बहुत कृपा रखते थे । जीवन-भर वे मुझ पर पुत्र का-सा स्नेह रखते रहे । मैं भी उनसे गुरु के योग्य भक्ति-युक्त बर्ताव रखता था । उनसे मुझे जन-सेवा में भाग लेने के लिये बड़ा प्रोत्साहन मिला। उन्होंने प्रयाग में 'हिन्दू-समाज' नाम की एक सभा सन् १८८० में स्थापित की, मैं उस सभा में जाने लगा । उन्होंने हिन्दुओं की एकता के सम्बन्ध में एक बड़ी ही सुन्दर अपील तैयार की थी ।

जब मैं बी० ए० पास हुआ, तब घर में ग़रीबी बहुत थी । घर के प्राणियों को अन्न-वस्त्र का भी क्लेश था । मामूली-सा घर था । घर में गाय थी । माँ अपने हाथ से उसकी सानी चलाती और उसका गोबर उठाती थी । स्त्री आधा पेट खाकर संतोष कर लेती थी और फटी हुई धोतियाँ सीकर पहना करती थी । मैंने बहुत वर्षों बाद एक दिन उससे पूछा—तुमने कभी सास से खाने-पहनने के कष्ट की शिकायत नहीं की ? स्त्री ने कहा—शिकायत करके क्या करती ? वे कहाँ से देतीं ? घर का कोना-कोना जितना वे जानती थीं, उतना ही मैं भी जानती थी । मेरा दुःख सुनकर वे रो देतीं, और क्या करतीं ?

बी० ए० पास होने के बाद मेरी बड़ी इच्छा थी कि बाबा और पिता के समान मैं भी कथा कहूँ और धर्म का प्रचार करूँ । किन्तु घर की ग़रीबी से सब प्राणियों को दुःख हो रहा था । उन्हीं दिनों उसी गवर्नमेंट स्कूल में, जिसमें मैं पढ़ा था, एक अध्यापक की जगह खाली हुई । मेरे चचेरे भाई पंडित जयगोविन्द जी उसमें हेड पंडित थे । उन्होंने मुझसे कहा कि इस जगह के लिये कोशिश करो । मेरी इच्छा धर्म-प्रचार में अपना जीवन लगा देने की थी । मैंने नाहीं कर दी । उन्होंने माँ से कहा ।

माँ मुझसे कहने के लिये आई । मैंने माँ की ओर देखा । उसकी आँखें डबडबा आई थीं । वे आँखें मेरी आँखों में अब तक धँसी हैं । मेरी सब

कल्पनाएँ माँ के आँसू में डूब गईं और मैंने अविलम्ब कहा---माँ, तुम कुछ न कहो; मैं नौकरी कर लूँगा। जगह ४०) महीने की थी। मैंने इसी वेतन पर स्कूल में अध्यापक की नौकरी कर ली।

स्वास्थ्य के खम्भे

स्वास्थ्य के तीन खम्भे है। आहार, शयन और ब्रह्मचर्य। तीनो का युक्ति पूर्वक सेवन करने से स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। मैंने वह आहार किया है, जो राजा महाराजाओं को भी दुर्लभ है। राजा-महाराजा नौकर के हाथ का बनाया भोजन पाते है, जो प्रेम से नहीं, बल्कि वेतन लेकर भोजन बनाते है। मैंने बालकपन से लेकर युवावस्था के अन्त तक माता, सास, बहन और साली के हाथ का भोजन पाया है, जो प्रत्येक दिन मेरी रुचि का स्वादिष्ट भोजन बड़े प्रेम से बनाती और बड़े प्रेम से खिलाती थी।

लडकपन मे माता मुझे आध पाव ताजा मक्खन रोज खिलाती थीं। सबेरे मोहनभोग खाने को मिलता था। एक डाक्टर ने कहा था कि अधिक मक्खन खाना व्यर्थ है, क्योंकि वह थोड़ा ही पचता है, शेष यों ही निकल जाता है। माता ने कहा---तुम डाक्टर को कहने दो, तुम एक छटांक मक्खन और एक सेर दूध रोज लिया करना। तब से अब तक मै मक्खन और दूध उसी परिमाण में रोज लेता हूँ जे जैसे माता ने बताया था।